डा. हरवंश लाल शर्मा

मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना

UNIVERSITY OF TORONTO
LIBRARY

WILLIAM H. DONNER
COLLECTION

purchased from
a gift by

THE DONNER CANADIAN
FOUNDATION

मध्यकालीन

निर्गुण-भक्ति-साधना

Madhyakālīna nirguṇa-bhakti-sādhanā

Sharma, Harvanshlal

डा० हरवंश लाल शर्मा,
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी ईवनिंग कालेज,
चण्डीगढ़ ।

नैवेद्य निकेतन
रवीन्द्र पुरी, वाराणसी—5

सी० प्रकाशक
डा० हरवंश लाल शर्मा
मुकन्द द्विवेदी एम० ए०
नैवेद्य निकेतन
रवीन्द्र पुरी; वाराणसी—5

वितरक
लोक भारती प्रकाशन 15—ए
महात्मा गान्धी मार्ग
इलहाबाद—1

PK
2031
S356

मूल्य
पाँच रुपए

LIBRARY
JUN 18 1969
UNIVERSITY OF TORONTO

मुद्रक
श्री गोपाल कृष्ण चौड्डा,
मॉडैस्ट प्रिंटर्ज़, सैंट्रल मिल्ज़,
जालन्धर शहर ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

को

प्रणतिपूर्वक

विषय सूची

प्रथम अध्याय	निर्गुण संतों की भक्ति का स्वरूप	1—25
दूसरा अध्याय	निर्गुण संतों की भक्ति-साधना की पृष्ठभूमि	26—48
तीसरा अध्याय	नाम सिमरन	49—64
	नाम सिमरन के प्रेरणा-स्रोत	54—64
चौथा अध्याय	गुरु साधना सम्बन्धी विचार	65—82
	संत साहित्य-वर्णित गुरु साधना की पृष्ठभूमि	70—82
पांचवां अध्याय	संत साधना तथा योग	83—107
	निर्गुण संतों की योग साधना के प्रेरणा-स्रोत	95—107
छठा अध्याय	निर्गुण संतों द्वारा वर्णित ज्ञान-मार्ग	107—119
	निर्गुण संतों द्वारा स्वीकृत ज्ञान-साधना के प्रेरणा-स्रोत	113—119
सातवां अध्याय	निर्गुण संतों के कर्मयोग सम्बन्धी विचार	120—132
	निर्गुण संतों के कर्म-सिद्धान्त के के प्रेरणा-स्रोत	126—132
परिशिष्ट	... ...	133—157

परिचय

मध्यकालीन निर्गुण साहित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में लिखा जा चुका है परन्तु उसके प्रेणास्रोतों अथवा पृष्ठभूमि के बारे में अभी भी विशेष अध्ययन की आवश्यकता बाकी है। इस दिशा में जो कुछ भी प्रयत्न हुआ है, उसी परम्परा में मेरा यह लघु-प्रयास है। प्रस्तुत रचना संत-साहित्य के साधना-पक्ष से सम्बन्धित है। संतों ने साधना के अन्य अंगों को भक्ति के सहायक तत्त्व माना है अतः कर्म, ज्ञान, आदि साधना के विभिन्न अंगों का उल्लेख रहते हुए भी प्रस्तुत रचना का नामकरण 'मध्यकालीन निर्गुण-भक्ति-साधना' ही उपयुक्त समझा गया है। प्रस्तुत कृति का प्रधान विषय निर्गुण संतों—जिन में कबीर और गुरु नानक रवि-शशि की भाँति अपनी उग्र एवं विनम्र दीप्ति एवं कान्ति से विभासित हैं—की भक्ति-साधना है। अपने पी. एच. डी. के शोध प्रबन्ध, 'हिन्दी निर्गुण-साहित्य और उसके प्रेरणा-स्रोत' में मैंने निर्गुण संतों के सिद्धान्त और साधना-पक्ष का विवेचन करते हुए इस समूची परम्परा का उल्लेख किया है, जो प्रत्यक्ष रूप में निर्गुण संतों की विचारधारा को प्रभावित करती रही है।

निर्गुण संतों की विचारधारा के बारे में इस विषय के जानकार विद्वानों की दो ढंग की प्रस्थापनाएँ हैं। प्रथम प्रकार के विचारानुसार इसे तात्कालिक परिस्थितियों की उपज मान इसे सामयिक आवश्यकता की पूर्ति बतलाया गया है। परन्तु दूसरे प्रकार के चिन्तन की शुरुआत करने वाले महामना आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि निर्गुण संतों की विचारधारा केवल तात्कालिक परिस्थितियों की ही उपज नहीं है. अपितु वह एक सुदीर्घ परम्परा का सहज-स्वाभाविक विकास भी है। इस के सूत्र ऐतिहासिक धारा से पूरी तरह सम्बद्ध हैं। डा० तारा चन्द की रचना 'इन्फ्ल्यूएन्स आव् इस्लाम आन इण्डियन कल्चर' का अध्ययन करते हुए तथा निर्गुण संतों के विश्वासों और विचारो के सम्बन्ध में मनन एवं चिन्तन करते समय मुझे ऐसा लगा कि डा० महोदय ने सम्भवतः पूरी परम्परा में अन्तःप्रवाहित प्राणतत्त्व को भली भाँति हृदयंगम किए बिना ही पश्चिमी लेखकों की प्रस्थापनाओं एवं पद्धति का अनुसरण करते हुए ही अपना निर्णय दे दिया है। निर्गुण संतों की चिन्तन-पद्धति भारतीय चिन्तन परम्परा की ऋणी है, क्योंकि इस्लाम का चिन्तन-मार्ग उनके चिन्तन-मार्ग से पूर्णतया भिन्न प्रकार का है। जहाँ तक काजियों, मुल्लाओं, शेखों और सुलतानों तथा नवाबों द्वारा उत्पन्न की गई परिस्थितियों का सम्बन्ध है और उन्हें सामाजिक

जीवन के धरातल पर सोचने एवं समझने की बात है, उस बारे में यह मान लेने पर भी कि निर्गुण संतों को अपनी बात कहने का अनुकूल एवं उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया था, यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि निर्गुण विचारधारा केवल सामयिक परिवेश का ही तात्कलिक परिणाम है।

जो कुछ संतों ने कहा और जिन परिस्थितियों में कहा, उन की बातें एकदम नयी नहीं हैं। इन का सूत्र उपनिषत्काल, बौद्ध एवं जैन काल तथा तदुपरान्त सिद्धों और योगियों की परम्परा से जोड़ा जा सकता है और है। समाज और धर्म का जैसा स्वरूप निर्गुण संतों को प्राप्त हुआ, वह मध्यकलीन आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे से उत्पन्न एवं स्वाभाविक परिणाम था। इस्लाम और मुस्लिम शासकों की मनोवृत्ति भी मध्यकालीन मनोवृत्ति ही थी। अतः निर्गुण संतों की विचारधारा को सामन्ती व्यवस्था-जनित परिस्थितियों के विरुद्ध यदि प्रतिक्रिया माना जाए तो अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है। जहाँ तक परमतत्व के स्वरूप की स्वीकृति का सम्बन्ध है, उसे भी 'नासदीय सूक्त' के चिन्तन की परम्परा से सम्बद्ध किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में जिस समय नासदीय सूक्तकार ने परमसत्ता के किसी निश्चित अर्थात् शरीरी स्वरूप के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया था, तभी से परमतत्व के निर्गुण स्वरूप के सिद्धान्त की मान्यता का सूत्रपात हुआ था। अन्तर केवल यह रहा कि 'अनुत्तरतत्व' के स्वरूप की चर्चाएँ व्यक्तिगत अनुभवों और विचारों के स्तर पर अपने-अपने ढंग से की जाती रही हैं।

'मध्यकालीन भक्ति-साधना' निर्गुण और सगुण रूपा है। प्रस्तुत रचना — 'मध्यकालीन भक्ति-साधना'—से रचना की परिसीमा निरधारित हो जाती है। निर्गुण संत पहले भक्त हैं, बाद में उन्हें कुछ भी कहा जा सकता है। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में हमें भक्ति-तत्त्व के प्रथम दर्शन वैदिक-साहित्य में ही प्राप्त हो जाते हैं; यद्यपि भक्ति का सैद्धान्तिक स्वरूप तब तक निर्मित हुआ उपलब्ध नहीं होता। औपनिषदिक-विचारधारा भी भक्ति अथवा-श्रद्धा के भाव को आवश्यक मानती है। निर्गुण-संत किसी विशिष्ट धर्म के अनुयायी तों नहीं हैं किन्तु धर्म के आन्तरिक स्वरूप का उन्होंने खण्डन भी नहीं किया है। इस का प्रधान कारण भारतीय देववाद की विचित्रता है, क्योंकि वह अन्ततोगत्वा अद्वैत परक ही है। संतों की दृष्टि में धर्म का अर्थ विशिष्ट प्रकार का विधिविधान या बाह्यडम्बर-परिपूर्ण पूजा एवं उपासना नहीं है। शैव, शक्त, वैष्णव सभी अपने-अपने उपास्य को त्रिगुणातीत ही बतलाते हैं। तदनुसार ब्रह्म या परमशिव को अद्वैत परमसत्ता माना जाता है; परन्तु इसके साथ ही उन्होंने देववाद को भी स्वीकार कर लिया हुआ है। वे उन्हें शरीरी मानते हैं और उनके प्रतीक की पूजा को भी वास्तविक पूजा एवं अर्चा स्वीकार करते हैं। ये सभी धार्मिक मत अवतार के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं। निर्गुण संतों ने उनके इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। वे परमसत्ता द्वारा विश्व का रूप धारण करने एवं उसके लीला स्वभाव को तो स्वीकार कर लेते हैं परन्तु उसे किसी परिच्छिन्न या सीमित व्यक्तित्व से सम्पन्न तथा किसी लौकिक माता-पिता की संतान नहीं मानते। निर्गुण

संतों का प्रधान सिद्धान्त परमसत्ता को निर्गुण बतलाना और अवतारवाद या देववाद का खण्डन करना है। इसी कारण उनकी भक्ति भी वैधी-भक्ति नहीं है। वरन् वह भाव-भक्ति है। इसे प्रेम लक्षणा भक्ति या इसी तरह का कोई भी दूसरा नाम दिया जा सकता है। शर्त यह है कि उपास्य का अवतारी रूप उसमें स्वीकृत न हो और उपासना बहिर्मुखी न हो कर अन्तर्मुखी हो।

प्रस्तुत रचना में निर्गुण संतों की भक्ति-साधना की चर्चा के उपरान्त उसकी पृष्ठ-भूमि की जो चर्चा की है, वह मात्र निर्गुण संतों की भक्ति-साधना की पृष्ठभूमि न होकर समूची भारतीय भक्ति-परम्परा का विहंगम पर्यालोचन है। भक्ति के अनिवार्य तत्त्व सगुण एवं निर्गुण साधकों—भक्तों एवं संतों—दोनों को समान भाव से मान्य हैं। अन्तर मात्र परमात्मा के अवतारी विग्रह के मानने या न मानने का है। विभिन्न शीर्षकों की पृष्ठभूमि के प्रतिपादन में जिस ऐतिहासिक परम्परा का उल्लेख हुआ है, उससे मेरा आशय निर्गुण भक्तों की भक्ति-साधना के स्वरूप को ठीक रीति से समझना रहा है। निर्गुण-भक्ति के आवश्यक अंगों का प्रतिपादन प्रस्तुत रचना की सीमाओं की दृष्टि से ही किया गया है। इस पद्धति का अनुसरण करते हुए नामसिमरन, गुरु-साधना, योग, ज्ञान और कर्म-मार्ग आदि मार्गों का विवेचन पृष्ठ भूमि के संदर्भ में हुआ है। सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के भक्ति साहित्य, उसकी विचारधारा एवं साधना विधियों आदि का संक्षिप्त परिचय तथा निर्गुण संतों की तद्विषयक धारणाओं के प्रत्यक्षीकरण का प्रयास भी किया गया है।

मध्यकालीन भक्ति-साधना के पर्यवेक्षण में मैंने सर्वत्र एक निश्चित और मौलिक दृष्टिकोण का सहारा लिया है। विद्वत् पाठक वर्ग की सम्मति एवं सुझावों का लेखक की ओर से सदैव स्वागत होगा। प्रस्तुत रचना में दिए गए अध्ययन में मुझे जिन महानुभावों की रचनाओं से किसी भी रूप में सहायता मिली है, उनके प्रति विनम्र आभार प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है। आचार्य हजारी प्रसाद के निर्देशन में मैंने जो कुछ पाया, इन इने गिने पृष्ठों में उसी को अभिव्यक्त कर पाया हूँ। उनके वैदुष्यपूर्ण सुझावों का कहाँ तक पालन कर सका हूँ, इस सम्बन्ध में राय देना अध्येताओं का काम है मेरा नहीं। अंत में अपनी ओर से केवल इतना कहना चाहता हूँ कि मैंने विषय को समझ कर ही कुछ कहने का साहस किया है।

विनीत
हरवंश लाल

हिन्दी विभाग
पंजाब यूनिवर्सिटी
ईवनिंग कालेज
चण्डीगढ़—3

प्रथम अध्याय

निर्गुणसंतों की भक्ति का स्वरूप

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।
(गीता अध्या० 18 श्लो० 16)

सामान्य परिचय

निर्गुणमार्गी संतों ने जिस समय संतमत के प्रचार का आरम्भ किया उस समय इस देश के धार्मिक जीवन में दो प्रधान धार्मिक विचारधाराएँ अलग-अलग दिशाओं में प्रवाहित हो रही थीं। हिन्दुओं और मुसलमानों के दो स्वतन्त्र समाज थे जो राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक धरातल पर किसी भी दृष्टि से एक दूसरे से मेल नहीं खाते थे। इस्लाम के अनुयायी एकेश्वरवाद के नाम पर बुतपरस्तों को काफ़िर मानते थे और हिन्दू भी उन्हें म्लेच्छ एवं अधार्मिक समझते थे। एक ओर इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रचार के प्रयत्न हो रहे थे और दूसरी ओर मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति के दर्शन को धार्मिक अभिव्यक्ति देने एवं वैष्णवधर्म का प्रचार करने की कोशिश की जा रही थी। इस्लाम शक्ति से प्रतिमापूजन और अवतारवाद का खण्डन करता था जबकि उस के अपने 'एकेश्वरवाद' में हिन्दूजाति को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति एवं योग्यता नहीं थी। उसके धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में 'काफ़िरों' के परमेश्वर के लिए कहीं गुंजाइश न थी। मुसलमानों के 'अल्लाह' का स्वरूप हिन्दुओं के 'परमेश्वर' के स्वरूप जैसा नहीं था। अर्थात् 'अल्लाह एक है' इस्लाम का यह सिद्धान्त हिन्दुओं के 'परमात्म-सिद्धान्त' से बिल्कुल भिन्न प्रकार का था। इस प्रकार 'एकअल्लाह' के सिद्धान्त को मानने वाले मुसलमान बहुदेववादी बने हुए थे। दूसरी ओर हिन्दू-समाज में अवतारवादी भक्तिपद्धति स्वयं इतना अधिक गहरा एवं व्यापक प्रभाव जमा चुकी थी कि परमसत्ता के निर्गुणस्वरूप के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए भी वह क्रियात्मक जीवन में अभी तक भी केवल बहुदेववादी ही बना हुआ था। निष्काम कर्म-सिद्धान्त भी उस युग के जीवन में पूर्णतया निष्क्रिया सा था।

योग की साधना भी तब तक तान्त्रिकरूप धारण कर चुकी थी और उस का विकृत पक्ष प्रधान हो गया था। साथ ही वह व्यक्तिगतसाधना होने के कारण सामाजिक जीवन के हित की दृष्टि से नगण्य बन चुकी थी। शंकराचार्य का अद्वैतदर्शन सामान्य

जनता के लिए ग्राह्य नहीं बन सका था क्योंकि तदनुसार ब्रह्म के निराकार स्वरूप को भक्ति का विषय बनाना सामान्य गृहस्थ के लिए संभव नहीं था। नाथपन्थ के अनुयायी भी पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के पक्ष में नहीं थे। इस मत में स्वीकृत साधना में हिन्दू और मुसलमान का भेदभाव तो नहीं था परन्तु उस का सामाजिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल था। इस प्रकार की परिस्थितियों में ऐसी साधनापद्धति की आवश्यकता थी, जिसे अपनाकर हिन्दुओं के अद्वैतदर्शन और मुसलमानों के 'एकेश्वरवाद' में पाए जाने वाले अथवा ग़लत धारणाओं पर आधारित हर प्रकार के भेद-भाव को मिटाया जा सकता। उस समय की आवश्यकता ऐसे वातावरण का निर्माण करने की भी थी कि मुसलमान हिन्दुओं के परमात्मा को अपना 'अल्लाह' कह सके और हिन्दू मुसलमानों के 'अल्लाह' या 'खुदा' को अपना भगवान् मान सके। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भाव की मिथ्या धारणाओं को दूर करने की सामग्री दोनों जातियों के दार्शनिक सिद्धान्तों में पहले से ही विद्यमान थी। उस समय तक मुसलमानों में सूफियों की विचारधारा का प्रचार भी प्रचुर मात्रा में हो चुका था और मुसलमानों की कट्टरता में अन्तर आने लगा था तथा हिन्दू, सूफियों की विचारधारा को सह लेने की तत्परता भी दिखलाने लगे थे। हिन्दुओं का दार्शनिक चिन्तन इस प्रकार का था कि परमसत्ता के निराकार स्वरूप के सिद्धान्त के प्रति उन्हें खींचना अत्यन्त सरल और साधारण सी बात थी। समस्या कठिन अवश्य थी परन्तु उसके समाधान के उपकरण भी कम शक्तिशाली नहीं थे। तब तक अद्वैतभक्ति की साधना का प्रचार हो चुका था और 'एकेश्वरवाद' की व्याख्या भी सूफी संत अपने ढंग से कर चुके थे, जिसे मुसलमानों ने अपना भी लिया था। दक्षिण के आलवार और आडयारसंतों एवं उस के बाद महाराष्ट्र के अद्वैतभक्ति को मानने वाले संतों ने वातावरण को और अधिक अनुकूल बना दिया था। सूफियों की रचनाओं और उनकी जीवन-चर्या ने एकेश्वरवाद की कट्टरता में सहनशीलता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार की परिस्थिति स्वयं ही किसी अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थी; किसी क्रांतदर्शी एवं निर्भीक व्यक्तित्व की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी।

उत्तरी भारत में निर्गुण की भक्ति के व्यापक प्रचार का कार्य कबीर द्वारा सम्पन्न हुआ है। जिस क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की युग को आवश्यकता थी वह नीमा-नीरू की गोद में पल रहा था। वह रामानन्द से भक्ति की दीक्षा लेकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। लोहा गर्म था, और कबीर ने अनुकूल अवसर पर उस पर सुधार के हथौड़े की चोट लगाई। उसने राम और रहीम के अन्तर को मिटाने का भरसक प्रयत्न किया। अल्लाह केवल मुसलमानों का ही अल्लाह न रहा और न ही दाशरथि राम केवल हिन्दुओं का ही राम रह गया। परमतत्त्व या परमात्मा नाम के भेदों से ऊपर उठकर सभी का 'रहमान' बन गया। हिन्दुओं में वह निर्गुण रह कर भी अपने गुणों के कारण 'सगुण' बना रहा। प्रभु के इस रूप की भक्ति से मुसलमान को आपत्ति नहीं थी; हिन्दुओं को इन्कार नहीं था।

कबीर ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों में एक ही ईश्वरीयज्योति के सिद्धान्त का

प्रचार किया और मानवमात्र को एक ही पिता की सन्तान माना। द्वैत का खण्डन कर सभी को एक दूसरे के बराबर स्वीकार किया।[1] नानक ने निर्भीक वाणी द्वारा यह घोषणा की कि हिन्दू और मुसलमान में भेद मानना व्यर्थ है। क्योंकि एक ही प्रभु की सन्तान होने के कारण न कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान ही। नाम और रूप का यह भेद केवल प्रतीत होता है जोकि मिथ्या है।[2] कबीर से लेकर गुरुनानक तक सभी संतों के प्रयत्नों से हिन्दुओं का अद्वैतवाद मुसलमानों का एकेश्वरवाद बन गया और मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा अद्वैतवाद में किसी प्रकार का भेद शेष न रह गया। कबीर ने बार-बार बल देकर कहा कि जो एक को पहचानता है, उसे ही सत्यतत्व की उपलब्धि होती है। जिसने प्रेम और प्रीति में अपने आप को लवलीन कर दिया है, वह सदा के लिए चौरासी से मुक्त हो गया है।[3] इसी 'एक' की शरण में जाने और उसके नाम का जाप करने के लिए मानव को बार-बार समझाया गया है।[4] चरनदास ने प्रभु की अनन्य-भक्ति के प्रति दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए कहा है कि मेरा सिर धड़ से अलग होकर भले ही पृथ्वी पर लोटने लगे, मृत्यु, मुझे भय दिखलाए परन्तु मेरा मस्तक राम के अतिरिक्त किसी दूसरे के आगे न झुके।[5] निर्गुणिएभक्त ईश्वर के दास एवं उसकी पतिव्रता नारी बन कर उसी के अनन्य प्रेम में अनुरक्त रहते हैं। संतों के विचार में जो जीवरूपी स्त्री कई देवताओं की पूजा करती है, वह व्यभिचारिणी स्त्री के समान है।[6] कबीर ने अल्लाह और राम में भेद मानने वालों को बहुदेववादी माना और उन्हें उस गणिका का पुत्र बतलाया; जो यह नहीं जानता कि उसका वास्तविक पिता कौन है।[7] कबीर की विचारधारा के अनुरूप ही नानक ने भी बहुदेववाद का खण्डन किया है और प्रभु के निर्गुणस्वरूप की भक्ति का उपदेश दिया है। नानक ने निर्गुण परमात्मा या प्रभु के स्वरूप का वर्णन 'मूलमन्त्र' में सूत्र रूप में कर दिया है। कबीर ने हिन्दुओं को सम्बोधित करते हुए कहा है कि वे उस राम की भक्ति क्यों नहीं करते, जिसके महेश (शिव) भी भक्त हैं ?[8] 'एकेश्वरवाद' में स्वीकृत (मुसलमानों के) अल्लाह के स्वरूप का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है, "तुम्हीं बताओ कि दो परमात्मा (अल्लाह और राम) कहाँ से आए ? तुम्हें किस मूर्ख ने भ्रम में डाल दिया है। परमात्मा अद्वैत है। उसी ने अपनी इच्छा से विविध रूप और नाम धारण किए हुए हैं। कभी वह अपना नाम अल्लाह रखता है, और कभी राम। रहीम, केशव, हरि, हजरत, सभी अद्वैतसत्ता के अलग-अलग नाम हैं।[9]" नानक ने जो यह कहा है 'कि न को हिन्दू न को मुसलमान' ठीक वही भाव कबीर उनसे पहले व्यक्त कर चुके थे। उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक साथ सम्बोधित करते हुए कहा है कि हिन्दू और तुरक का भेद मिथ्या है। इसलिए तुम दोनों एक ही राम का जाप करो। हिन्दुओं और तुर्कों का रचयिता अलग नहीं है। तुम उसी 'एक' की गति को समझ नहीं रहे।[10] यही निर्गुणमार्गी सन्तों की भक्ति है।

'भक्ति' शब्द 'भज् सेवायाम्, धातु के आगे क्तिन् प्रत्यय लगाने से बना है। भागवतपुराणकार ने भक्ति के स्वरूपों की चर्चा करते हुए भगवान् के प्रति अव्यवहिता तथा अहैतुकीभक्ति को सर्वोत्तम माना है।[11] शाण्डिल्य ऋषि की रचना 'भक्ति सूत्र'

में परमात्मा के प्रति जीव की अनन्यानुरक्ति को भक्ति बतलाया गया है।[12] 'नारद भक्ति सूत्र' के अनुसार 'परमात्मा के प्रति परमप्रेमरूप-भाव ही अमृत स्वरूप-भक्ति है। नारदी भक्ति में मानव को भक्तिभाव द्वारा अमृतपद के लाभ का अधिकारी माना गया है। वह भक्ति द्वारा तृप्त होता है और सांसारिक कामनाओं से रहित हो जाता है।[13] मध्वाचार्य 'भगवान् में ज्ञान एवं विचारपूर्वक सुदृढ़ और सततस्नेह' को भक्ति का लक्षण मानते हैं। उन की दृष्टि में मोक्षलाभ का सरलतम उपाय भक्ति है। उन्होंने भक्ति की परिभाषा की व्यख्या इस प्रकार की है :—'पूर्व ज्ञान से उत्पन्न तथा सर्वदा विद्यमान रहने वाला परमात्मा के प्रति प्रेम ही भक्ति है।[14] गोपालपूर्वतापिनी उपनिषद् में 'मन को भगवान् में पूर्ण रूप से केन्द्रित कर, किसी भी फल की इच्छा किए बिना निरन्तर भगवद्-भजन करना' ही भक्ति माना गया है।[15] 'नारदपंचरात्र' में 'प्रेम से आप्लावित मन का हरि के प्रति, निष्काम बन कर सदा प्रवाहित होते रहना' भक्ति माना है।[16] 'भक्तिरसायन सिन्धु, में मन की उस वृत्ति को भक्ति कहा है जो आध्यात्मिक साधना से द्रवीभूत हो कर ईश्वर की ओर प्रवाहित होती है।[17] डा० हजारीप्रसाद के कथनानुसार भक्ति 'भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम' का नाम है।[18] आद्यप्रसाद मिश्र ने नारद और शाण्डिल्य की भक्ति पद्धति की चर्चा करते हुए लिखा है, "भक्ति चित्त की वह वृत्ति है जिस की प्राप्ति होने पर सारे कर्म, सारे आचार, ईश्वर को अर्पित हो जाते हैं। भक्त अपने आप को साध्य में लीन कर देता है। वह अत्यन्त व्याकुल और अधीर हो उठता है।"[19] 'भक्ति रसामृतसिन्धु' में भक्ति की चर्चा करते हुए कहा है कि ईश्वर का अनुशीलन करते समय ज्ञान और कर्म की आवश्यकता नहीं, केवल भक्तिभाव ही को साध्य मान कर चलना पड़ता है।[20] भागवतपुराण में इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निष्काम रूप से भगवान् में लीन होना ही भक्ति का लक्षण दिया गया है।[21] वल्लभाचार्य ने भगवान् के प्रति ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सततस्नेह ही को भक्ति माना है।[22] आचार्यशुक्ल ने धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति का नाम दिया है।[23] डा० डी० बी० वरुआ ने गीता प्रतिवादिता भक्ति की व्याख्या की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए 'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' को उसका ऋणी माना है।

भक्ति के सर्वोपरि महत्त्व के सम्बन्ध में निर्गुणमार्गी सन्तों के विचार

नारदभक्तिसूत्र में भक्ति के दो प्रमुख भेद बतलाए गए हैं। पराभक्ति तथा गौणी भक्ति। पराभक्ति का दूसरा नाम प्रेमा या प्रेमलक्षणा भक्ति है।[24] निर्गुणमार्गी सन्तों ने 'प्रेमाभक्ति' ही को अपनी भक्ति की साधना में स्थान दिया है। वैधी भक्ति को वे नहीं मानते। यही कारण है निर्गुणमार्गी-सन्तों की भक्ति को 'भावभक्ति' का अभिधान देना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। सन्तों की भक्ति (भावभक्ति) को नारदभक्तिसूत्र प्रतिपादित रागात्मिकाभक्ति का सहजीकृत रूप कह सकते हैं। चरनदास ने भावभक्ति को पराभक्ति का तथा[25] सुन्दरदास ने प्रेमलक्षणा भक्ति का नाम दिया है।[26] निर्गुणियों की भक्ति को नारदभक्तिसूत्र में 'परा', भागवत

में 'निर्गुण', अंगिरा में 'रागात्मिका' और शाण्डिल्यसूत्र में 'मुख्या' कहा गया है। सन्तों की साधना बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी है। उनके विचारानुसार निर्गुण-प्रभु की भक्ति के उपकरण भी स्थूल कदापि नहीं हो सकते। इसीलिए उन्होंने वैधीभक्ति में स्वीकृत सम्पूर्ण बाह्यपूजा एवं विधि-विधानों तथा उपकरणों की बार-बार भावात्मक व्याख्या करने के प्रयत्न किए हैं। संतों द्वारा प्रयुक्त 'भाव' शब्द के अर्थ का क्षेत्र भी सीमित नहीं है। वैधीभक्ति के स्थूल उपकरणों को त्याग देने के बाद भक्ति की साधना के सम्पूर्ण उपायों का समावेश संतों के 'भाव' शब्द के अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए।

कबीर, भावप्रधान भक्ति को भवरोगनिवारिणी संजीवनी समझते थे। उन्होंने भावभक्ति में जप, तप संयम, स्नान तथा ज्ञानादि सभी साधनों को व्यर्थ का परिश्रम बतलाया है।[27] दादू ने तो भक्तिहीन जीवन को जीवन ही नहीं माना है।

संत साधकों ने ज्ञानमार्ग का खण्डन तो नहीं किया परन्तु जहाँ भी ज्ञान और भक्ति की चर्चा का अवसर आया, वहीं पर भक्ति को अवश्य प्रथम स्थान दिया गया है।[28] कबीर मन, वाणी और कर्म तीनों साधनों द्वारा प्रभु के गुणों के कीर्तन और राम नाम के स्मरण को ही जीवन का पवित्र लक्ष्य मानते हैं।[29] नानक गुरु के चरणों में प्रभु की भक्ति की प्राप्ति के हित नतमस्तक होकर हरिजन के दासों का दास कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं।[30] उन्हें वाहगुरु के सिवाय किसी प्रकार के भी अन्य सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं है। उनकी एकमात्र एषणा गुरु-शब्द द्वारा भक्तिभावना की प्राप्ति है। जीवन में उनकी एक ही उत्कट अभिलाषा है : हरि के गुणों का कीर्तन तथा उसके नाम का सिमरन।[31] नानक अनन्यभक्ति के उपासक हैं। भक्ति के रत्न को पाने के लिए समय की प्रतीक्षा करना उन्हें पसन्द नहीं है। उनका कहना है कि जीव की शोभा इसी में है कि वह प्रति क्षण और प्रति श्वास, प्रभु के नाम के सिमरन में लीन रहे। प्रिय की स्मृति यदि पल भर के लिए भी विस्मृत हो जाए तो उनके विचार में वह भक्ति नहीं कहला सकती।[32] सन्तों ने अपने प्रभु का स्वरूप निर्गुण ही माना है परन्तु उपासना के क्षेत्र में उसे अलौकिक गुणों का भण्डार स्वीकार कर लिया है। 'जयाख्य' तथा 'अहिर्बुध्न्य' संहिताओं में भी वासुदेव को अपने शुद्ध स्वरूप में निर्गुण ही माना गया है। पंचरात्र संहिताएं वासुदेव को अपने शुद्ध स्वरूप में निर्गुण मानती हैं। वासुदेव का सगुण रूप धारण करने का सिद्धान्त ही विशिष्टाद्वैतवाद की विचारधारा का आधार बना है। संहिताएं अवतारवाद को मानती हैं। वासुदेव का सगुण रूप धारण करने का सिद्धान्त अवतारवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। यही सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद की विचारधारा का आधार है। परन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त में संतों की कदापि आस्था नहीं है। किसी प्रतिमा के रूप में भगवान् की पूजा के सिद्धान्त के वे सदैव विरोधी रहे हैं। 'नारद पंचरात्र' आदि परवर्ती संहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की भांति मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा की स्थापना, मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा, दैनिकचर्या आदि के रूप में वैधीभक्ति का प्रचार ही प्रधान हो गया था। मन्दिरों में स्थापित देवताओं की पूजा के बहाने पुजारी अपने पेट की पूजा के लिए ही अधिक प्रयत्नशील रहते थे। भक्तसमाज अन्धविश्वास के कारण आरती, पाठ और नैवेद्य आदि बाहरी उपकरणों के अनुष्ठानों में ही आत्म-कल्याण की प्राप्ति के प्रति दृढ़ विश्वासी हो चुका था। इस प्रकार भक्ति के प्रचार

के कारण अन्त:करण की शुद्धि का महत्त्व गौण बनकर रह गया तथा प्रभु की भक्ति से सम्बन्धित इन्हीं अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए ही सन्तों ने वैधीभक्ति केस्थान पर 'भावभक्ति' का प्रचार किया है।

निर्गुण-भक्ति में प्रेम की पीर का स्थान

निर्गुणमार्गी सन्तों की भक्ति में 'प्रेमपीर' के तत्व को सूफियों की 'प्रेमपीर' का ऋणी माना जाता है। लेकिन सन्तों की प्रेमाभक्ति में प्रेम की पीर के तत्त्व को आद्योपान्त सूफीप्रभाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता। भक्ति के जितने लक्षण 'भक्ति की परिभाषा' वाले संदर्भ में दिए गए हैं, उनसे इस मत का स्वयमेव खण्डन हो जाता है। भक्ति का प्रधान आधार ही प्रेम भाव है। सम्पूर्ण वैष्णवग्रन्थ और वैष्णवभक्त प्रेम के तत्व को भक्ति का प्रधान लक्षण मानते हैं। कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनकी भक्ति 'नारदी भक्ति है'। 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' तथा 'नारद भक्तिसूत्र' में भक्ति की साधना में प्रेम के पक्ष को ही प्रधान माना गया है। रामानुज तथा मध्वाचार्य के भक्ति के लक्षणों में भी 'स्नेह' को पूरा समर्थन प्राप्त है। संतभक्तों ने भी भारतीय भक्ति-साहित्य के माध्यम द्वारा तथा भक्त समाज की संगति में बैठकर चारों ओर के वातावरण से इसी प्रेम के तत्व को प्राप्त किया था। वे सूफी सन्तों के सम्पर्क में भी रहे हैं। अत: सूफी साधकों की 'प्रेम की पीर' का रंग उनकी भक्ति के प्रेम तत्व को गहरा करने में अवश्य सहायक सिद्ध हुआ है। परन्तु उन्होंने सूफियों के प्रेमतत्व को पुन: भारतीयप्रेम के रंग में रंग लिया है। पीछे हम कबीर की अनन्यभक्ति की चर्चा कर चुके हैं।

नानक ने भी द्वैतभाव का निराकरण कर अद्वैत की प्रतिष्ठा करते समय 'सुहागन' तथा 'दुहागन' के रूपकों द्वारा प्रेम की पीर का वर्णन किया है। परन्तु उनके जीव-सम्बन्धी वर्णन भारतीय नारी के प्रतीक हैं; न कि सूफियों का अनुकरण। वियोगावस्था में भक्त की आत्मा प्रेम की जिस पीड़ा का अनुभव करती है, उसकी अभिव्यक्ति सूफियों के प्रेमवर्णनों की अपेक्षा आलवारों तथा महाराष्ट्र के सन्तों के प्रेमवर्णनों के अधिक अनुकूल प्रतीत होती है। 'सूफी प्रेम' की वर्णनशैली का प्रभाव सन्तों के प्रेमवर्णनों में कहीं कहीं दिखाई देता है क्योंकि सूफी संतों के प्रेम के विरह-पक्ष के मजीठ से उन्होंने अपने प्रेम के वियोग-वर्णनों को रंजित किया है। केवल इतनी सी मात्रा तक ही संतों की प्रेम-भक्ति सूफियोंकी 'प्रेम की पीर' से प्रभावित मानी जा सकती है। गुरु नानक कहीं पर भी प्रेमभक्ति के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का वर्णन करते समय संयमभाव का परित्याग नहीं करते। कबीर की दुलहन यद्यपि कहीं कहीं अधिक वाचाल है। परन्तु उनके परवर्ती संतों की भक्तिभावना का विरह-पक्ष अधिक मधुर तथा मादक है।[33] ऐसा लगता है कि सूफियों की प्रेम-साधना का प्रभाव उन पर अपेक्षाकृत अधिक है। फिर भी सन्तों की भक्ति, ज्ञान प्रधान है और उसमें मर्यादा का भाव बना हुआ है। उनका प्रेम आनन्द-प्रेम जैसा है। एवं उनके प्रेम के वर्णनों में ज्ञानाग्नि की भट्ठी की लपटों से चुवा कर तैयार किया हुआ प्रेम का रस है। वह भावात्मक मदिरा है और इस मदिरा का पान कर

भक्त का हृदय अपने आपको उसके मादक माधुर्य में डूबा हुआ पाता है ; इसे पीकर वह मतवाला बन जाता है। सन्तों का प्रेम भी अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करने में पूर्ण समर्थ है। उनके प्रेम में आत्मा को निर्मल बना कर उसे ईश्वरोन्मुख बनाने की शक्ति है। उनके विचार के अनुसार प्रेम में वह शक्ति है, जिसके बल पर जीवरूप नारी प्रभु रूपी प्रेमी को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। नानक का प्रेम एकनिष्ठ भगवत्प्रेम है। उनके प्रेम-भावों में काम की आसक्ति की अपेक्षा सेवा की भावना का प्राचुर्य है। नानक द्वारा वर्णित 'बारह माह' प्रेम के विरहभाव की उत्तम साहित्यिक अभिव्यक्ति मानी जाती है। उनके पूर्ववर्ती संतों तथा परवर्ती सिक्ख गुरुओं और सन्तों ने भी उसी तरह से 'बारह माह' की विधा की परम्परा को अपनाया है। 'बारह माह' के वर्णनों में जीवरूपी स्त्री अपने प्रेमी-प्रभु के वियोग में अपनी मानसिक अवस्था का अनेक रीतियों से उदघाटन करती है। गुरु अर्जुन देव ने 'बारह माह' के वर्णन में कहा है, कि जिन्होंने प्रेम और भक्ति को अंगीकार कर लिया है उनके लिए साँसारिक ताप कहीं भी नहीं है। नानक ने प्रभु-भक्ति को जीव की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय बतलाता है। उनके विचार में भक्त की आत्मा रूपी स्त्री को वही कार्य करना चाहिए जो उसके प्रियतम को अच्छा लगे क्योंकि अपने प्रिय का गुणानुवाद करने वाली जीवरूपी स्त्री पर ही प्रभु प्रसन्न होते हैं और पाँव से सिर तक अपने आपको प्रेम की भेंट करने पर सांसारिकविषयों की आसक्तियों से मुक्ति मिलती है। ऐसे भक्त को ही प्रभु के दरबार में आदर की प्राप्ति होती है और वह उसी भक्त को अपनाते हैं जो उनका अनन्य प्रेमी है। रोना भी उसी का सफल है, जो प्रभु को प्राप्त करने के हेतु रोता है। अपना सर्वस्व अपर्ण करने पर ही प्रियतम-प्रभु मिलते हैं। प्रभु की अनन्यभक्ति के अभाव में आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। रात भी उन्हीं की सफल है जिनके हृदय में प्रभुमिलन की असीम उत्कण्ठा है। प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण हृदय ही आनन्द से परिपूर्ण बन सकता है। प्रियतमप्रभु उसी के हृदय में प्रेम का भाव उत्पन्न करते हैं, जो प्रेम सहित उनके गुणों का गान करता है। नानक ने जहाँ पर भी ज्ञान, कर्म और योग का प्रकरण आया है वहीं पर उनमें उन्होंने प्रेमभक्ति का संचार कर दिया है। वह प्रेमाभक्ति के बिना कर्म को कोरा पाखण्ड मानते हैं। भक्ति से शून्य ज्ञान को कोरा तर्क तथा विदण्डावाद बतलाते हैं और योग-साधना को भक्ति के बिना शारीरिक व्यायाम घोषित करते हैं। उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ यह कहा है कि यदि हृदय में प्रेम का रस नहीं तो जीव के कर्म सदा सकाम ही रहेंगे। ऐसे व्यक्ति के कर्मों का निष्काम रूप धारण करना सम्भव ही नहीं है। भक्ति-तत्त्व से प्राणवान् होने पर ही ज्ञान ब्रह्मज्ञान कहलाता है और योग, सहजयोग का रूप धारण करता है। संत, भक्ति के सच्चे तथा अनन्य साधक हैं। प्रेमाभक्ति की अवस्था के हृदयोद्गारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए वे कहते हैं कि हे रात्रि, तुम खुशीभरी रात बन कर और अधिक लम्बी बन जा ताकि मैं प्रिय से प्यार कर सकूँ। प्रिय ने मुझे आलिंगन-पाश में बान्ध लिया है और मैं उनके प्रेम में डूब चुकी हूँ। नानक प्रिय के मतवाले भक्त थे।[34] उन्हें तो केवल प्रिय की खुशी चाहिए। संसार की उन्हें रंचमात्र भी परवाह नहीं है।[35]

मीरा की भाँति वह किसी भी मूल्य पर अपने प्रिय का त्याग करने को तैयार नहीं हैं; चाहे सारी सृष्टि उनके विरुद्ध हो जाए।[36] उनका कहना है कि जब प्रिय के बिना हृदय को चैन ही नहीं तब दूसरा उपाय ही क्या है।[37] रातें प्रिय-वियोग में भारी-भारी प्रतीत होती हैं। आँखों में नींद का नाम तक नहीं है। दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा क्षण भर केलिए भी चैन नहीं लेने देती।[38] घर-घर में सहेलियाँ प्रिय के समागम का उत्सव मना रही हैं परन्तु प्रिय ने उसे क्यों विस्मृत कर दिया है। यही पीड़ा उन्हें चैन नहीं लेने देती।

ऊपर दिए गए सम्पूर्ण उदाहरण नानक की प्रेमाभक्ति की साधना का समर्थन करते हैं। नानक ने अहंकार 'हउमे' को प्रभु की भक्ति में बहुत बड़ी बाधा माना है। इस से स्पष्ट व्यंजित होता है कि वह वैधीभक्ति के पक्ष में नहीं थे। उनके विचार में ऐसा जीव यह मानने लगता है कि "मैं सभी कुछ कर रहा हूँ"। 'अहंभाव' से यदि वह ग्रस्त नहीं, तो उस द्वारा इस भाव में लिप्त हो जाने की आशंका अवश्य बनी ही रहती है। निर्गुणसन्तों द्वारा वैधीभक्ति का खण्डन करने का कारण केवल यही था। नानक तिलक, पुष्प, चन्दनलेप, माला तथा वस्त्र आदि धारण करने की उपासना-विधि से सम्बन्धित वैधीभक्ति में प्रतिपादित साधनों को बाह्याडम्बर की संज्ञा देकर स्थान-स्थान पर उसका खण्डन करते[39] हैं। उन्होंने प्रेमाभक्ति में एकनिष्ठता के भाव की बार-बार सराहना की है। एकनिष्ठ भक्त ही उनकी दृष्टि में प्रेमाभक्ति का उचित एवं योग्य अधिकारी बन सकता है। जीव रूपी स्त्री को नानक ने स्थान-स्थान पर चन्द्र-चकोर, दीपक-पतंग, स्वातिचातक आदि प्रतीकों द्वारा एकनिष्ठ बने रहने का उपदेश दिया है।

कबीर प्रियतम के मिलन में ही 'प्रेम' की आराधना की सार्थकता मानते हैं। उनका यह अडिग विश्वास है कि हृदय के मन्दिर में प्रेम का प्रकाश होते ही संशय के अन्धकार का नाश होने लगता है ; कंतप्यारा, तत्काल मिल जाता है। उन का कहना है कि प्रेम-भाव के सूर्य के उदय होते ही भक्त का सम्पूर्ण शरीर ज्योतित हो उठता है। मुख में कस्तूरी की वास और वाणी में सुगन्ध चारों ओर अपनी सुगन्धी का प्रसार करने लगती है[40]। इसी प्रकार दादू ने भी प्रेमाभक्ति के अभाव में जीवन धारण करना व्यर्थ का परिश्रम माना है[41]। सुन्दरदास का विचार है कि चित्त को अनन्यभाव से प्रभु की ओर लगाए रखना ही भक्ति है। वह सच्चे भक्त का यही लक्षण मानते हैं। उन्होंने अनन्यभाव को ही प्रेम का मार्ग तथा भक्ति का पथ बतलाया है।[42] कबीर अनन्य-प्रेम के भाव के मीनार पर खड़े होकर पुकार-पुकार कर कहते हैं कि जो जीव रूपी स्त्री अनेक देवताओं से प्रेम करती है, वह सभी को शरीर बेचने वाली वेश्या है।[43] सन्तों की प्रेमाभक्ति सुनने में जितनी मधुर, सरल और सुकर प्रतीत होती है, उस मार्ग पर चलते समय वह उतनी ही खाण्डे की धार जैसी तेज है और अग्नि की झाल से भी अधिक दाहक है। उसे खाला का घर भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रेम-पंथ फूलों की सेज नहीं है। शायद इसी कारण मीरा ने पुकार-पुकार कर कहा था कि 'प्रेम न कीजै कोय'। नानक ने प्रेम की वेदना

में स्वयं जलकर देखा है। साजन ने यदि तनिक भी देर की है तो वह रो उठे हैं।[44] उनके लिए प्रेमी के दर्शनों के बिना पलभर के लिए भी जीना असम्भव है। उनकी प्रिय-दर्शन की पिपासा कभी शान्त होती ही नहीं। प्रेम का प्याला भर-भर कर पी लेने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं मिलती। उनकी प्रिय-मिलन की प्यास बुझने ही नहीं पाती। यौवन की घड़ियाँ व्यर्थ में बीतती देखकर उनकी भक्तात्मा सदैव छटपटाती रहती है। वह विरह में जल के अभाव में मच्छली की तरह तड़पती है।[45] उन्हें यदि एक बार भी पिय के दर्शन हो जाएँ, वह अपना सिर काट कर उसे भेंट चढ़ाने के लिए प्रस्तुत हैं। उनकी आँखों में 'वाह गुरु' के प्रेम की मदिरा का रंग है। एक क्षण के लिए रुकना या भूलना उन्हें सह्य नहीं है।[46] स्त्री का पति जब तक उसके घर न आए, वह आनन्द कैसे मना सकती है। उसका यौवन तो प्रिय के वियोग में व्यर्थ ही ढलता जा रहा है।[47]

प्रेम की तेज असिधार की पीड़ा का अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकता है। संतों ने इस पीड़ा का अनुभव स्वयं किया है। वे उस प्रिय के वियोगी हैं, जिसके निकट जाने के लिए चादर पर लगा हुआ एक दाग भी क्षमा नहीं किया जाता। कबीर ने प्रेम को 'अहंभाव' के दाग़ को पूर्ण रूप से मिटाने की अनिवार्य आवश्यकता के नियम का विधान माना है।[48] नानक ने भी 'सुहागिन' का यही प्रमुख लक्षण दिया है। प्रेम सचमुच खाण्ड़े की धार है।[49] उसके दो पक्ष हैं; संयोग तथा वियोग। उन में भी प्रेम की तीव्र अनुभूति विरह-पक्ष में ही अधिक होती है। संतों की प्रभुभक्ति में संयोग-जनित आनन्दानुभूति का वर्णन अपेक्षाकृत कम है। वियोगजन्य विरह की पीर का वर्णन ही अधिक मिलता है।

'नारदभक्ति-सूत्र' में विरह को भक्ति का आवश्यक तथा प्रधान अंग माना गया है।[50] सूफी साधकों की प्रेम-भावना में विरह की पीर का सर्वोपरि स्थान है।[51] निर्गुण-मार्गी सन्तों की प्रेमाभक्ति का विरह-पक्ष भारतीय भक्तिभावना के विरह के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसे सूफियों के प्रेम गीतों ने भी प्रभावित किया है। वैष्णवभक्ति के शास्त्रीय-ग्रन्थों में ग्यारह आसक्तियाँ मानी गई है।[52] गणना के क्रम में विरहासक्ति की संख्या दसवीं है परन्तु संतों के काव्य में विरहासक्ति की प्रधानता है। कबीर की भक्तात्मा प्रियतम राम के लिए विरह की गहरी वेदना का अनुभव करती है। नानक की विरहिणी आत्मा की भी प्रियतम-प्रभु के वियोग में दयनीय हालत है। प्रियतमा अन्धेरी रात में अकेली सोई हुई है। प्रिय के आलिंगन के बिना रात काटना उसके लिए कठिन हो रहा है। उसका हृदय विरह की वेदना से जल रहा हैं। वह पीड़ित है। दिन और रात किसी समय भी उसे चैन नहीं है। उसके लिए दिन भी अग्नि में होम की सामग्री की भांति जल रहा है। प्रिय के संयोग के अभाव में उसका सम्पूर्ण आनन्द ही मानों छीन लिया गया है।[53] सब से अधिक वेदना का कारण तो यह है कि प्रिय पलंग पर पास ही है। परन्तु फिर भी उससे समागम नहीं हो रहा है।[54] इस में दोष प्रिय का नहीं; कमी कहीं स्वयं स्त्री में ही

है। वह बार-बार कहते हैं कि गुणवती स्त्री ही अपने गुणों के कारण प्रिय के समागम के आनन्द को भोग सकती है परन्तु उस में प्रिय को रिझाने की शक्ति होनी चाहिए। पति ऐसी ही स्त्री के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करता है।[55]

दया बाई ने प्रेमिका के विरह की तीव्रानुभूति को अग्नि की ज्वाला का नाम दिया है। वह स्वयं स्त्री हैं। अत: उनका यह अनुभव स्वाभाविक है। वह कहती है कि जब तक हृदय में विरहजनित पीड़ा की हूक नहीं उठती, भक्त प्रेम के मार्ग का सच्चा पथिक कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।[56] नानक ने प्रभु के वियोग की बेकरारी में चैन न मिलने की उपमा उस बालक से दी है, जो माता के दूध के बिना किसी भी हालत में चैन नहीं पाता।[57] चौथे सिक्ख गुरु प्रभु के वियोग की पीड़ा का अनुभव करते हुए कहते हैं कि मेरा रोम-रोम, तन-मन, विरह की वेदना की तीव्र आँच में जल रहा है। उसे गहरी चोट लगी है। वह कराह रहा है। बिना प्रिय के दर्शनों के मेरी आँखों में नींद नहीं है। वैद्य को तो मेरे रोग का पता ही नहीं है। किसी नशीली वस्तु का सेवन करने वाला जिस तरह नशे की वस्तु को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलता, इसी तरह मैं भी प्रिय के दर्शनों के बिना एक पल भी चैन से नहीं काट सकता।[58] दयाबाई प्रेम की पीड़ा की अनिर्वचनीयता का वर्णन करती हुई कहती हैं कि प्रेम की पीड़ा की अनुभूति का पता केवल प्रेम के पन्थ का पथिक ही बतला सकता है या हम स्वयं विरही बन कर उस पीड़ा का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।[59]

सन्तों की प्रेमलक्षणा भक्ति में प्रेम तथा विरह भावना के सम्बन्ध में गुरु का महत्त्व

वैष्णवभक्तों तथा आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में प्रभु के प्रति प्रेम के भाव को विशेष महत्त्व दिया है। सूफी-साधना में भी प्रेम को प्रभुभक्ति का प्राण माना जाता है। भक्त के मन में प्रभु की ओर अनन्य भक्ति के भाव के उन्मुख होने से पूर्व एवं मिलन के अभाव के कारण विरहानुभूति की चिंगारी डालने वाले को गुरु माना गया है।[60] सन्तों ने सूफ़ियों तथा वैष्णवसन्तों की इस धारणा को पूर्ण रूप से अंगीकार किया है। कबीर गुरु को विरह का बाण चलाने वाला मानते हैं। वह लिखते हैं कि साधक विरह के बाण की चोट खाते ही संसार की सुध-बुध भूल जाता है। ऐसी स्थिति में वह यह अनुभव करने लगता है कि वह परमात्मा के वियोग में चैन नहीं पा रहा हैं। इस प्रकार की अनुभूति की अवस्था में उसका हृदय प्रभुमिलन के लिए अधीर हो उठता है। वह हँसना एवं बोलना दोनों छोड़ देता है। उसकी वृत्तियाँ संसार के सभी आकर्षणों के प्रति बहरी और गूँगी बन जाती हैं।[61] ऐसे भक्त के हृदय में सांसारिक विषयों के प्रति अरुचि हो जाती है। यही उसका बहरापन है। ज्ञान की उपलब्धि के मार्ग पर चलने की तैयारी करते ही वह जागतिक सम्बन्धों तथा आकर्षणों की चर्चा ही नहीं करता, उसके गूँगेपन का इतना ही अर्थ है। आवागमन के चक्कर में डालने वाले कर्मों के प्रति उसका भागना भी बन्द हो जाता हैं। यही

उसका पंगुरूप है ।

नानक तथा उनकी विचारधारा के व्याख्याता परवर्ती गुरुओं ने अपनी वाणी के प्राय: प्रत्येक चरण में 'गुरु' शब्द का आदर सहित प्रयोग किया है । उनकी दृष्टि में प्रभुभक्ति ही मुक्तिरूप पदार्थ है ।[62] भक्ति की प्राप्ति की याचना के लिए उन्होने 'गुरु' शब्द (गुरु उपदेश) की हर समय याचना की है ।[63] वे सदैव मेघरूपी गुरु की कृपा की वर्षा के लिए चातक बने हैं और विलख-विलख कर रोते रहे हैं । उनका मन भक्ति के रत्न को पाने के लिए सदा छटपटाता रहा है । गुरु-दर्शनों के अभाव में उनके लिए एक पल का समय भी पूरा युग बन जाता है । गुरु के दर्शनों की प्यास के बुझे बिना उन्हें शान्ति नहीं मिलती । जब तक वे गुरु के चरणों के दर्शन न कर लें, उनकी आँखों में नींद नहीं आती ।[64] नानक ने ज्ञान की प्राप्ति गुरु की शरण की प्राप्ति के बिना असम्भव मानी है ।[65] गुरु के बैठने का स्थान ही (वास्तविक अर्थों में) उन्हें हरा भरा स्थान दिखलाई देता है ।[66] गुरु के चरणों में बैठ कर, उसके बतलाए हुए 'शब्द' को हृदय में धारण करने के बाद ही उन्होने हरिकीर्तन की महता को स्वीकार किया है ।[67] समूची आगमपरम्परा में गुरु का विशेष महत्त्व है । गुरु को ब्रह्मा, विष्णु तथा साक्षात् महेश्वर माना गया है । वैष्णवसंहिताएँ भी गुरु के प्रति आदर की भावना को प्रथम स्थान प्रदान करती हैं । संतों के युग में सूफ़ीसाधना में गुरु के महत्त्व की स्वीकृति की चर्चा पीछे कर आए हैं । लेकिन संतों ने भारतीय गुरुपरम्परा को ही अपनाया है । गुरु द्वारा प्रेम की चिनगी फैंकने का भाव सूफ़ीसाधना में भी मिलता है । संतो की साधना में अन्त:साधना की प्रधानता है । उनके विचार में गुरु के बिना अध्यात्मज्ञान सम्भव ही नहीं हैं । पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने भी कबीर की भाँति गुरु और गोविन्द के अन्तर को मिटा दिया है । उनकी दृष्टि में गुरु और वाहगुरु एक हैं ।

निर्गुणमार्गी सन्त गुरु की कृपा द्वारा ही प्रभु के प्रति रागानुगाभक्ति को सम्भव मानते हैं । संतपरम्परा में रागानुगाभक्ति को अधिक महत्त्व गुरु के माध्यम के कारण ही मिला है । गुरुकृपा द्वारा अहर्निश प्रभु के गुणों का वर्णन करने वाले ग्रन्थों का स्वाध्याय, गुणकीर्तन, नाम सिमरण और जाप आदि को निर्गुणिए संत प्रेमाभक्ति का लक्षण मानते हैं ।[68] गुरु-कृपा द्वारा प्रभु के सतत-स्मरण को उन्हेंने रागानुगाभक्ति बतलाया है ।[69]

अवतारवादी वैष्णव ग्रन्थों में प्रतिपादित भक्ति के प्रकार तथा निर्गुणसंत

गत पृष्ठों में निर्गुणसंतों द्वारा स्वीकृत भक्ति के सामान्य स्वरूप का विवेचन किया गया है । उपनिषदों में ईश, मुण्डक, श्वेताश्वतर तथा नारायण इत्यादि उपनिषदों में भक्ति का अथवा उपासना के मार्ग का वर्णन हुआ है । महाभारत के शांतिपर्व के नारायणीयोपाख्यान और तदनन्तर भगवद्गीता में विशेष विस्तार के साथ वैष्णवीभक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राप्त होता है । भागवत-पुराण का ग्यारहवाँ स्कन्ध, भक्ति के महत्त्व और उसके स्वरूप पर पूर्णप्रकाश डालता

ता', अहिर्बुध्न्यसंहिता', 'नारद पंचरात्रसंहिता' आदि संहिताओं
प की सर्वांगीण व्याख्या तथा विधि-विधानों के अनुष्ठानों के विस्तृत-
विव... ए हैं। वैष्णव-पुराणों में भक्ति-पद्धति और भक्ति के महत्त्व पर विस्तार सहित विचार हुआ है। 'नारदभक्तिसूत्र' तथा 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' दोनों भक्ति के मुख्य एवं प्रसिद्ध 'सूत्रग्रन्थ' माने जाते हैं। इन दोनों रचनाओं में वर्णित भक्ति के स्वरूप और भक्ति के भेदों का वर्णन करने वाले ग्रन्थों (भागवत-पुराण तथा नारदभक्तिसूत्र आदि) में प्रतिपादित भक्ति के प्रकारों को परवर्ती भक्तिपरम्परा में प्रायः उसी तरह स्वीकार कर लिया गया है। 'नारदभक्तिसूत्र' में भक्ति के ग्यारह भेद माने गए हैं। वे इस प्रकार हैं :—

गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति तथा परमविरहासक्ति।[70]

'भागवत पुराण' में वर्णित भक्ति के नौ भेद इस प्रकार हैं :—

भगवान् के गुणों का कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन।[71]

निर्गुणमार्गी सन्तों ने ऊपर बतलाए गए भक्ति के भेदों में से कुछ को अपना-लिया है और कुछ छोड़ दिए गए हैं। निर्गुणभक्ति के सिद्धान्तों में जो भेद ठीक नहीं बैठते, उनका मानसीकारण या भावीकारण करने के प्रयत्न किए गए हैं। प्रभुभक्ति (भागवत पुराण प्रतिपादित) के जिन भेदों को उन्होंने जिस रूप में अपनाया है, उनका क्रमसहित उल्लेख इस प्रकार है :—

पूजासक्ति

आरम्भ में ही हम इस पक्ष पर विचार कर आए हैं कि संतों ने भागवतसम्प्रदाय में प्रचलित वैधीभक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि परमत्मा के निराकार स्वरूप के उपासक होने के कारण उनके पास वैधीभक्ति को मान कर चलने का आधार हीं नहीं था। अवतारवाद तथा प्रतिमा-पूजन को वे मान्यता नहीं देते। वैधीभक्ति का सीधा सम्बन्ध अवतारवाद तथा प्रतिमापूजन है। पूजा कबीर ने भी की है और नानक ने भी। नानक की एक प्रसिद्ध 'वाणी' में विराट्पुरुष की पूजा का उल्लेख मिलता है।[72] यह उल्लेख उनकी 'आरती' में हुआ है। भागवद्भक्ति के अनुसार आरती यद्यपि प्रतिमापूजन का ही एक प्रकार है परन्तु संतों का विचार इस वैधीभक्ति का विरोधी है। कहा जाता है कि एक बार नानक यात्रा करते हुए जगन्नाथपुरी पहुँचे। भगवान् की प्रतिमा के सम्मुख आरती के समय उन्होंने दूसरे लोगों की भाँति पंक्ति में खड़े होकर आरती नहीं की। उन्होंने पूजा का नैवैद्य भी स्वीकार नहीं किया। कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया कि इस प्रकार की आरती करना मानों सर्वव्यापक प्रभु को सीमित बना देना है। अकालपुरुष की आरती तो निरन्तर दिन रात हो रही है। सम्पूर्ण प्रकृति तथा देवगण मिलकर उसकी आरती उतार रहे हैं। आकाश के थाल में रखे हुए सूर्य और चन्द्रमा उस आरती के दीपक हैं। मलयचन्दन ही उस आरती की धूप है। वायु चँवर है। सम्पूर्ण विश्व के

वनों के पुष्प उसकी आरती के लिए विकसित होते हैं। फिर उस भवखण्डन भगवान् की यह सीमित आरती कैसे हो सकती है।

प्रतिमापूजन में भगवान् की प्रतिमा के आगे पुष्प एवं नैवेद्य आदि के रूप में अर्चना की सामग्री भेंट की जाती है। भगवान् की मूर्ति को चन्दन लगाया जाता है और उसके गले में पुष्पमाला पहनाई जाती है। तदनन्तर विशेष प्रकार की मुद्राओं द्वारा प्रतिमा के आगे नतमस्तक हो कर प्रणाम किया जाता है और शयनकाल के समय शय्या बिछा कर भगवान् को सुला दिया जाता है। स्नान, ध्यान, धूप आदि उपकरणों द्वारा प्रभु-प्रतिमा का पूजन होता है। रुद्राक्ष और तुलसी आदि की माला लेकर भगवान् का नाम या 'मन्त्र विशेष' का जाप किया जाता है। संतकवि कबीर ने भी यह सभी कुछ किया है, परन्तु उनका ढंग निराला है। प्रेम ही उनकी पूजा की सामग्री के पत्र तथा पुष्प हैं। चित्त चन्दन है। स्नेह ही पुष्पमाला है। हृदय उनका आसन या मुद्रा है। सहज भाव के सिंहासन पर वह बैठते हैं। शील का स्नान करते हैं और ध्यान का धूप काम में लाते हैं। अज्ञानान्धकार को विदीर्ण करने के लिए ज्ञान का दीपक जलाते हैं। मन की माला लेकर उन्होंने 'सोऽहम्' का जाप किया है। आत्मा ही उनका देवता है। शरीर ही मन्दिर या देवालय है। कबीर की भक्ति भावरूपा है इसलिए उनकी पूजा भी भावात्मक ही है। संतों की भक्ति सहज की साधना है। कबीर पुजारियों की स्थूल सामग्री की व्यर्थता की चर्चा करते हुए बतलाते हैं कि भगवान् पूजा की बाहरी सामग्री से कदापि प्रसन्न नहीं होते। इसलिए पुजारी भगवान् के आगे पूजा की जो सामग्री भेंट करता है, उससे उनके भगवान् को कदापि नहीं रिझाया जा सकता। जिस प्रकार की पूजा-विधि से भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है, पूजनहार (पूजारी) उस मार्ग की ओर जा ही नहीं रहा है।[73] गुरु नानक ने भी भगवान् की पूजा बार बार की है। निराकार प्रभु के लिए वह भावरूप पूजा-सामग्री का संग्रह करते हैं। शालिग्राम की पूजा करने वालों को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं, 'तुम अपने आगे शालिग्राम की प्रतिमा रखते हो परन्तु तुम्हारा मन अपने भगवान् पर केन्द्रित न होकर चारों ओर घूमता रहता है। षट्कर्म, योगासन, नेवली, धोती आदि की कृच्छ्रसाधना द्वारा शरीर को कष्ट देते हो और माला फेरने की मजदूरी धन के रूप में माँगते हो। हे मीत, इस प्रकार की पूजाविधि से भवसागर पार नहीं किया जा सकता।[74] मूर्ति की पूजा करने वाले ब्राह्मणों को धोती, यज्ञोपवीत तथा कुशा आदि के सही अर्थ समझाते हुए वह कहते हैं :—

'काया ही ब्राह्मण है, मन धोती, ज्ञान यज्ञोपवीत और ध्यान कुशा है।[75] मूर्ति की पूजा, पूजा नहीं है। लोग व्यर्थ में मूर्ति (पत्थर) की पूजा करते हैं। तीर्थों एवं वनों में विरक्त बने भटकते हैं।[76] वे नहीं जानते कि हरिनाम ही तीर्थ है, सच्चा ज्ञान ही संक्रांति एवं अमावस्या आदि पवित्र तिथियां हैं।[77] सच्चीपूजा में नाम के चन्दन को मन के हुरसे (चन्दन घिसने का पत्थर) पर रगड़ कर शुभकर्मों की कुंकुम यदि मिला ली जाए तो घट के भीतर ही पूजा होने लगती है।[78] यही पूजा कबीर ने भी की है और उनकी आरती का स्वरूप भी यही है। मूर्ति की पूजा की आसक्ति के

.भु की, हृदय के भीतर पूजा करना ही सच्ची पूजा बतलाया है। सम्पूर्ण प्रकृति ७ ..ो की आरती उतार रही है।[79] उनके विचार में हृदय के मन्दिर में समाए हुए परमात्मा का चिन्तन ही सच्ची पूजा है। मन्दिरों और मस्जिदों में जाना सब व्यर्थ है।[80]

दास्यासक्ति

सन्तकवियों ने अपने आप को दास और भगवान् को स्वामी मान कर अनन्यभाव से उसके आगे अपना सर्वस्व अर्पित किया है। तुलसी ने जिस दास्यासक्ति के भाव की चरमसीमा का स्पर्श किया है उसी प्रकार का दास्यभाव निर्गुणमार्गी सन्तों का भी है। कबीर, गोविंद की सेवा द्वारा मिलने वाले सुख की तुलना में राजसुख को भी हेय बतलाते हैं।[81] नानक ने सदैव अपने आपको प्रभु का क्रीतदास माना है। केवल इतना ही नहीं वह तो अपने आपको प्रभु के भक्तों का भी दास कहलवाने में गौरव का अनुभव करते हैं।[82] दादूदयाल को सेवक कहलाने में परमआनन्द तथा असीमगौरव का अनुभव होता है। अपने मालिक के संकेत पर वह अपना शरीर करवत की धार से कटवाने को तैयार हैं। उन्होंने दृढ़ विश्वास और अडिगश्रद्धा के भाव से अपना सर्वस्व प्रभु को अपर्ण करने की बार-बार इच्छा प्रकट की है। उनका स्वामी उन्हें मारने के लिए क्रूर से क्रूर उपाय भी क्यों न अपना ले, उन्हें सभी कुछ प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार है।[83] नानक ने दादू की भाँति भगवान् का सच्चा कैंकर्य अपनाने के लिए अपने 'अहंभाव' को सर्वात्माभाव से त्याग देना स्वीकार किया है। उनका यह विश्वास है कि मामूली सा आलस्य भी दास को अपने स्वामी की भक्ति से विमुख बना देता है। उनके विचार में भक्ति के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति पहले से ही मृत्यु के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता है। वह जीवन की सम्पूर्ण आशाओं और इच्छाओं का परित्याग कर, अपने आप को प्रेमी के चरणों की धूलि समझता है।[84] गुरुरामदास ने अपने आपको खुले बाज़ार में खरीदा हुआ मालिक का दास बतलाया है। वह अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति पूर्णतया विरक्त हैं। उन्हें तो केवल इतना ही ज्ञान है कि वह अपने प्रभु के गुलाम हैं, और प्रभु उनका स्वामी है।[85] संत दरिया ने भगवान् को सांईं और अपने आपको उसका अनन्यदास कहा है।[86] धरमदास भी प्रभु के प्रति अनन्यभाव के दास हैं। एक पल के लिए भी वह उसका ध्यान चित्त से नहीं भूलते। प्रभु के चरणों की सेवा में रत रहने में उन्होंने अपार आनन्द का अनुभव किया है।[87]

निर्गुणसन्तों ने अपनी दास्यभक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति में भगवान् के अमित ऐश्वर्य वाले स्वरूप को स्वीकार किया है; परन्तु उनके भगवान् की ईश्वरता अपने भक्त को भय से अभिभूत करने में आनन्द नहीं लेती जैसा कि सेमिटिक (Semetic) जातियों की धार्मिक उपासना में पाया जाता है। सन्तों के हृदय में भगवान् की भक्तवत्सलता के सम्बन्ध में रंचमात्र संशय नहीं है। उन्होंने भगवान् को लौकिक ऐश्वर्य की आकांक्षा से प्रेरित होकर कभी सम्बोधित नहीं किया है। उनके दास्यभाव का लक्ष्य तो अपने अहंभाव का विगलन है। परन्तु यह विगलन भी किसी सांसारिकसत्ता की प्राप्ति के लिए नहीं अपितु आंतरिक परिवर्तन के लिए

है। दास्यभक्ति भी सन्तों के विचार में प्रेम का ही एक प्रकार है। सगुणोपासकों में भी दास्यभक्ति का विशेष महत्व है परन्तु वल्लभ को भगवान् की लीला में ही विशेष रुचि थी और सूर ने इसी लीला के सिद्धांत को काव्य का रूप दिया है। दास्यभक्ति उन्हें प्रिय नहीं क्योंकि वह लीलाभाव को ही स्वीकार करते हैं। भगवान् भक्त के दास्यभाव से उस पर दयालु होकर उसे अपना अन्तरंग विश्वासभाजन बना लेता है। संतों की यह दृढ़ धारणा है। उन्होंने 'अहंभाव' को इस सीमा तक विगलित कर देने की बात कही है कि परमात्मा की भक्ति करते हुए भक्त को यह भी नहीं कहना चाहिए कि वह उसका अपना प्रयत्न है। अतः सच्चा भक्त भगवान् की कृपा को भक्ति के लिए परमावश्यक समझता है। जब तक प्रिय न चाहे, वह दास्यभाव की भक्ति की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता।

सख्यभक्ति

उपास्य के प्रति सख्यभाव की भक्ति का वर्णन वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त के पुष्टिमार्ग की काव्यभिव्यक्ति के रूप में गीति साहित्य के महान् प्रणेताकवि सूरदास ने किया है परन्तु, वैष्णव-भक्तों की सख्यासक्ति तथा निर्गुणमार्गी सन्तों की सख्यसक्ति में बहुत बड़ा अन्तर है। सूर की सख्यासक्ति के वर्णनों में गोपाल बाल, अपने सखा-कृष्ण के प्रति जिस प्रकार के भाव का प्रदर्शन एवं आचरण करते हैं, उस प्रकार का सखा-भाव निर्गुणमार्गी सन्तों की दास्यासक्तिप्रधान भक्ति में सम्भव नहीं है। कृष्ण को उसके सखा 'खेलन में को का को गुसैयाँ' कह सकते हैं जब कि निर्गुणमार्गी सन्त अपने भगवान् के प्रति इस प्रकार की धृष्टता की बात तक नहीं सोच सकते। अतः सख्यासक्ति की वैष्णवीपरिभाषा के अनुसार संतसाहित्य में सख्यासक्ति का रूप कहीं उपलब्ध नहीं है। नानक ने भगवान् को सखा, मित्र, प्रियतम, साथी, हितचिन्तक और आभूषण (शोभा) के रूप में वर्णित किया है। उन्होंने अपने विनयपदों में प्रभु के विना एक क्षण के लिए भी जीना असम्भव माना है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि प्रभु के समान दूसरा कोई मित्र नहीं है। पांचवे गुरु अर्जुनदेव ने भी प्रभु को अपना सखा, मित्र और साजन कहा है। निर्गुणसंतों की भक्तिभावना को दृष्टि में रखते हुए यह कह सकते हैं कि उन्होंने जहाँ कहीं 'सखा' या 'मीत' शब्द का प्रयोग किया है उनका भाव 'हित का साधन करने वाले भगवान्' से ही है। निर्गुणसंतों ने सांसारिक सम्बन्धियों को स्वार्थी बतलाया है क्योंकि वे अपनी आसक्ति एवं सुख के लिए ही सदैव प्रयत्नशील रहते हैं और विभिन्न एषणाओं से प्रेरित हैं। वे स्वयं नाशवान् हैं इसलिए दूसरे की रक्षा वे नहीं कर सकते। संसारसागर से पार उतरने में इनसे किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं की जा सकती। वे स्वार्थी ही अधिक हैं और जब प्रभु के घर कर्मों का हिसाब देने का समय आता है, तत्काल मुँह फेर लेते हैं। इसी अर्थ में वे सच्चे मित्र नहीं कहला सकते। सच्चा 'हितु' केवल भगवान् ही है। संतमत-स्वीकृत सख्यभाव का यही आशय है। शेषसभी सम्बन्ध मिथ्या हैं। उनके प्रति आकर्षित रहने वाले प्राणी के भ्रम का निवारण कर संतों ने उन्हें सच्चे सखा (परमात्मा)

की शरण में जाने का बार-बार उपदेश दिया है। नानक ने स्पष्ट रूप में कहा है कि यह संसार हमें उसी समय तक पहचानता है जब तक उनका लेनदेन के व्यवहार का समय चलता रहता है ; उसके स्वार्थ की पूर्ति किसी न किसी रूप में हम से होती रहती है।[88] अन्यत्र एक स्थान पर इसी आशय को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, 'यहाँ से चलते समय साथ चलने वाला, तथा कर्मों का लेखा देते समय सहायक बनकर खड़ा होने वाला ही सच्चा मित्र है।[89] जो अन्त समय साथ न दे वह कैसा मित्र।[90] सांसारिक मित्रों से अन्त समय किसी प्रकार की भी सहायता की आशा करना व्यर्थ है।[91] सभी सम्बन्धी केवल अपने सुखों के लिए ही मित्र बने हुए हैं।[92] मित्र उसको बनाना चाहिए, जिसका साथ अन्त तक काम आए।[93] जीव को हरिभजन की ओर लगाने वाले ही सच्चे मित्र हैं। मित्रता उसी की लाभदायक है, जिसके हाथ में सभी कुछ हो।[94]

स्मरणासक्ति

उपास्य के नाम का स्मरण संतों की भक्ति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। स्मरण का सिद्धान्त 'आगम शास्त्रों' में अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक-सिद्धान्त के के रूप में वर्णित किया गया है। स्मरण-साधना द्वारा साधक उसी का रूप बन जाता है, जिसका एकाग्रचित्त होकर वह स्मरण करता है। चित्त की एकाग्रता के लिए भी नामसिमरण प्रमुख साधनों में गिना जाता है। सूर की राधा कृष्ण के गुणों का स्मरण करती हुई कृष्ण का ही रूप हो जाया करती थी। लौकिकप्रेम के क्षेत्र में स्मरण द्वारा प्रेमी का रूप हो जाने की अवस्था के उदाहरण संतों की 'बानियों' में मिलते हैं। कबीर ने हरि-सिमरन को जल के रूपक के तौर पर वर्णित किया है। उनका कहना है कि स्मरण-जल में सम्पूर्ण मानसिक मल, राग एवं द्वेष इत्यादि धुल जाते हैं। कबीर ने 'सिमरन' का अर्थ केवल माला फेरना कदापि स्वीकार नहीं किया है। 'तस्बी' की ग्रन्थियों को गिनना भी उनकी दृष्टि में सिमरन नहीं कहलाता। सिमरन की साधना उन की दृष्टि में सूली पर चढ़ने के कष्ट से किसी भी स्थिति में कम कष्टसाध्य नहीं है। स्मरण की साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण सांसारिक आकर्षणों से मन को हटाना पड़ता है और केवल प्रभु के चरणों में ही उसे नियोजित कर देना होता है।[95] 'गुरुग्रन्थ साहिब में 'नामसिमरन' को भक्ति का प्राण मानते हुए नाम और नामी में अभेद के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। गुरुओं का विश्वास है कि सकलसृष्टि नाम के बीज के आधार पर ही स्थित है।[96] नानक जप, तप, संयम आदि सभी को नाम बतलाते हुए सदा राम के नाम के सिमरन के रंग में रंग जाने का उपदेश देते हैं।[97] उनके विचार में नाम वह धन है जिसे विश्व की महान् से महान् शक्ति भी चुरा नहीं सकती और न ही छीन कर उसे अपने अधीन ही कर सकती है।[98] नाम इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसकी महत्ता के अनुमान की कल्पना भी नहीं जा सकती।[99] राम नाम का स्मरण न कर मुक्ति की आशा करना व्यर्थ है।[100] संतों ने भक्ति की कसौटी हरिनामसिमरन ही को माना है। उन्हें वही भक्त प्रिय है जो राम के निर्मल नाम का गुण गान करता है।

निर्गुणसंतों ने उन्हीं लोगों का जीवन सफल माना है, जिन्होंने नामस्मरण किया है।[101] जिनके पास नाम का धन नहीं, वे चाहे कितना ही शरीर को सजाने और सुन्दर बनाने के प्रयत्न करें, बिना 'हरिनाम' उन्हें कहीं भी सुख नहीं मिल सकता।[102] केवल तीर्थों में जाकर स्नान करने, व्रतोपवास के नियमों का पालन करने, अग्नि द्वारा शरीर को जलाने का कण भर लाभ नहीं है। राम के नाम को मन में सर्वात्मभाव से स्वीकार कर लेना बहुत जरूरी है। राम के नाम के बिना मुक्ति कैसे मिल सकती है?[103] नानक के मत में मन को ज्योतिर्मन बनाने का एक मात्र साधन नामसिमरन ही है। 'शब्द सुरति' में ही वह वास्तविक सुख मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रभुप्रेम ही सुख का सार है। तन और मन की समिधाएँ बना लेने, समूचे शरीर को अग्नि में होम कर देने, शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर तुला पर रख देने से क्या लाभ। ये सारे उपाय एक साथ मिलने पर भी राम के नाम की बराबरी नहीं कर सकते। रामनाम के सिमरन के अभाव में मस्तक को आरे से चिरवा कर दो टूक कर देने, आधे शरीर को कटवा कर साधना करने, शरीर को बर्फ में तपस्या द्वारा गला देने पर भी, भव के रोग से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यदि नामसिमरन की आराधना नहीं तो सभी कुछ व्यर्थ है। हरि नाम के स्मरण की बराबरी उपासना का दूसरा कोई साधन नहीं कर सकता।[104] नानक का यह भी विचार है कि कर्मकाण्ड के भेख में यह जीव नाम के स्मरण की महत्ता को भूल जाता है। इसलिए वह इन उपायों द्वारा मुक्ति लाभ कैसे कर सकता है।[105] गुरुओं ने इसी कारण मन को सच्चे परमात्मा की ओर लगाने के लिये बार-बार उपदेश दिया तथा समझाया है कि नाम-स्मरण द्वारा ही सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।[106] तन और मन नामसिमरन के अभाव में कोढ़ी बतलाए गए हैं तथा इस साधना के बिना जीव को नरकवास के भय से सावधान किया गया है।[107] नाम का त्याग कर दूसरे साधन अपनाने वालों को विष्ठा का कृमि कहा है।[108] इस तरह नाम से हीन जीव की उपर्युक्त अवस्था का वर्णन करते हुए पलभर के लिए भी 'नाम' को न भूलने के लिए प्रेरित किया गया है।[109] कलिकाल में नाम ही प्रभु की कृपा की उपलब्धि का सर्वोत्तम साधन है।[110] जिसकी सन्तान के हृदय में नाम के प्रति प्रेम और श्रद्धा नहीं उसे जन्म देने के स्थान पर माँ का बाँझ रहना ही श्रेस्कर है।[111] पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने नाम के प्रेम से हीन व्यक्ति को सर्प की योनि प्राप्त करने का अभिशाप दिया है[112] और कहा है कि इस दुर्लभ मानवदेह को प्राप्त कर जिसने नाम का स्मरण नहीं किया, वह आत्मघाती है।[113] जिस प्रकार मेघ के अभाव में खेती सूख जाती है, इसी तरह गोविंद के नामस्मरण के बिना सर्वस्व ही व्यर्थ सिद्ध होता है।[114] नाम-सिमरन की विस्तृत चर्चा तथा भारतीय साधनाओं में नामसिमरन के महत्त्व पर अलग विचार किया गया है। यहाँ केवल संकेत मात्रकर दिया गया है।

निर्गुणमार्गीसंतों की परम्परा में अपने आप को हरिप्रियतम की 'बहुरिया' माना जाता है।[115] 'नारद भक्ति सूत्र' तथा 'भागवत पुराण' में वर्णित जिन ग्यारह आसक्तियों तथा भक्ति के नौ प्रकारों का क्रमशः उल्लेख किया गया है, उनमें कान्तासक्ति की भक्ति सबसे अधिक

कान्तासक्ति

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य में स्थायीभावों के रूप में कतिपय स्वाभविक प्रवृत्तियाँ स्वीकार की हैं। अलंकारशास्त्रियों ने इन्हीं को स्थायीभाव कहा है। इन सभी स्थायीभावों में रति या प्रेम के स्थायीभाव का वृत्ति प्रमुख है। भक्ति की साधना में इन सम्पूर्ण वृत्तियों का उदात्तीकरण किया जाता है। उदात्तीकरण से आशय उन्हें ईश्वरोन्मुखी बनाने से है। मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि स्वभाविक वृत्तियों के दमन का परिणाम कदापि कल्याणकर नहीं होता। ईश्वर के प्रति प्रेम का अर्थ तन्मय अर्थात् उस में लीन होने की अवस्था है। इस अवस्था की गहरी अनुभूति कान्ताभाव में ही हो सकती है। प्रेमासक्ति को कान्ताभाव द्वारा प्राप्त करने में सन्तों का यही आशय है। पूर्णरूपेण अर्पण की भावना कान्ताभाव में ही पूर्णता प्राप्त करती है। अतः प्रभु-प्रेम की भावना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने लौकिक प्रतीकों से काम लिया है। प्रभु के प्रेम के लिए प्रतीक विशेषकर समाज में प्रचलित प्रथाओं, रीतिरिवाजों और धारणाओं से लिए गए हैं। प्रेमभाव को साकार रूप प्रदान करने में प्रतीक विशेष सहायक हैं। भक्ति में त्याग और तपस्या का रूप अनन्य प्रेम के भाव के अभ्यास में साकार किया जाता है। कबीर आदि संतों ने हरि को अपना 'पीव' तथा अपने आप को उस पीव की 'बहुरिया' कहा है।[117] नानक का 'बारह-माह' तथा सुहागिन के रूपक कान्ताभाव के सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी उदाहरण हैं।[118] उनका यह दृढ़ विश्वास है कि भक्ति के क्षेत्र में भगवान् और भक्त के मध्य पति-पत्नी के सम्बन्ध की प्रीति का प्रतीक तन्मयावस्था की प्राप्ति में पूर्ण रूप से सहायक है। भक्ति की साधना में अद्वैत स्थिति की प्राप्ति केवल कान्तासक्ति द्वारा ही सम्भव है। संतों के प्रेम-वर्णनों में सूफियों की प्रेमभावना का रंग भी है। तथापि प्रेम का आदर्श भारतीय ही रखा गया है। नानक भगवान् को निर्गुण मानते हैं अतः 'उनके प्रिय' का स्वरूप भी निराकर है। उन्होंने प्रियतमा की वासक-सज्जा भी अरूप अथवा अमूर्त उपकरणों द्वारा की है। वह निर्मल मन के मौक्तिक पहनती है। अपने श्वास-प्रश्वासों के धागे में उसे पिरोती है। क्षमा और सत्कर्मों का शृंगार करती है। अपनी पूर्ण वासक-सज्जा में ही वह प्रियतम के साथ मिलन-सुख के आनन्द का अनुभव करना चाहती है।[119] जीवरूपी स्त्री को पहले प्रिय के योग्य बनना पड़ता है क्योंकि वह गुणहीन से प्रेम नहीं करता। नानक ने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति अलौकिक प्रेम के उपकरणों के माध्यम द्वारा अत्यन्त मार्मिक रूप में की है। जीव अबोध बाला है। उसे अपने प्रिय के घर का पता नहीं है। धीरे-धीरे वह यह जान लेती है कि 'प्रिय है'। उसे अपने प्रिय के होने का यह परिचय गुरु द्वारा मिलता है। तब उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह उसे 'अलौकिक प्रिय' गुरु की कृपा से ही मिलेगा। इस प्रकार उसकी चिरप्रतीक्षा के विरह की अवधि समाप्त होने लगती है। वह 'सुहागिन' बनकर प्रिय के द्वार पर पहुँचती है। उसका 'भय' और 'भाव' का शृंगार देखकर प्रियतम उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसे सदैव के लिए अपना बना लेता है।[120]

निर्गुणसंत बहुदेववाद के सिद्धान्त में आस्था नहीं रखते। इसलिए नानक ने

बहुदेवपूजा में आसक्त जीव को 'दुहागन' का रूपक दिया है। 'एक प्रभु' की भक्ति में लीन रहने वाली आत्मा का नाम 'सुहागन' है। इसी भाव को पाँचवें गुरु ने नवीन अभिव्यक्ति देकर वर्णित किया है। वह लिखते हैं कि अनन्यभाव से अनुरक्त जीव रूपी प्रेमिका जब परमात्मरूपी प्रिय को मिलने के लिए आतुर रहती है, तब परमात्मा उसके अवगुणों की परवाह नहीं करता। वह उसके रूपरंग और शृंगार की ओर ध्यान नहीं देता एवं उसके प्रतिकूल आचरणों पर भी रुष्ट नहीं होता। उसे वह प्रेमार्द्र हृदय से अपना लेता है।[121] तीसरे गुरु ने जीवरूपी भक्त-नारी में होने योग्य गुणों की चर्चा करते हुए कहा है, "उसे भय का शृंगार करना चाहिए। वाणी में अमृत की भाँति मिठास का गुण धारण करना चाहिए। शीलस्वभाव वाली बन कर अपने प्रिय को सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। इन गुणों तथा भाव (प्यार) से अपने आपको सजा कर वह जब प्रिय के पास जावेगी, उसे वह (प्रिय) तत्काल स्वीकार कर लेगा।[122]

नानक का प्रेमवर्णन कबीर के प्रेमवर्णनों वाले पदों से प्रभावित प्रतीत होता है। इस प्रभाव के रहते हुए भी नानक तथा अन्य गुरुओं की बानियों में शैली की निजी मौलिकता है। उनके वर्णन लौकिक प्रेम की अनुभूति के मिश्रण से और अधिक अनुभूतिप्रवण बन गए हैं। उनका हृदय कबीर से भी अधिक लौकिक प्रेम के उपकरणों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के कारण मनोविज्ञान की गहराई तक चला गया है। उनकी उद्भावनाएँ भी मौलिक हैं। क्षेत्रीय प्रभाव उनकी व्यक्तिगत विशेषता है। प्रान्तीय रीति-रिवाज, प्राकृतिक दृश्य, समाज में प्रचलित आचार तथा व्यवहार सभी का अपना नवीन रूप है। उनकी रचनाओं में मौलिकता एवं आंचलिकता के गुण विद्यमान हैं।[123a]

निर्गुणसंतों ने प्रथम मिलन के अवसर के समय भक्तात्मा को नवोढ़ा की भाँति काँपती हुई एवं प्रिय के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से सोचती हुई दिखलाया है। वह मन ही मन सोचती है कि न जाने उसके साथ पीव का बर्ताव कैसा होगा। उसका शरीर रोमांचित है। न जाने कितने दीर्घ-वियोग के बाद वह अपनी मनोकामना को साकार-रूप प्राप्त करने के लिए उसके आगे खड़ी है।[123] धीरे-धीरे इस स्थिति की प्रतीक्षा भी समाप्त होती है। उसकी प्रसन्नता का पारावार आनन्द की असीम अनुभूति का रूप धारण कर लेता है। वह अपने मानसिक अह्लाद को अपने भीतर समेटने में असमर्थ हो जाती है और उसे अभिव्यक्त किए बिना रह भी नहीं सकती। अपनी प्रसन्नता को सखियों के सम्मुख प्रकट करती हुई कहती है, "मुझे बहुत दिनों के उपरान्त प्रियतम मिले हैं। मेरा भाग्य बहुत बड़ा है कि प्रिय मुझे घर ही में मिल गए हैं।[124] तुम मंगल के गीत गाओ।" वह आपने आध्यात्मिक परिणय को अनुपम परिणय के रूप में वर्णित करती है। "मेरे इस परिणय में ब्रह्मा ने वेद-मन्त्रों का पाठ किया है। तैंतीस करोड़ देवी-देवता तथा अट्ठासी हज़ार मुनि, बराती बन कर आए हैं।[125] कबीर की आत्मा का दूसरा पक्ष भी कम मार्मिक नहीं है। यह उस समय की दशा का वर्णन है जब उसका प्रिय के साथ अभी तक समागम नहीं हुआ है। वह अत्यन्त व्याकुल है उसका अंग-अंग विरह की वेदना से पीड़ित है। दूसरी साध्वी नारियाँ अपने आपको प्रभु की

प्रेमिकाएँ कहती हैं। उसके हृदय की स्पर्धा विरह की वेदना को और अधिक तीव्र बना देती है। वह विनय-भाव से पुकार उठती है, "बालहा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।" उसे अपने अनन्य प्रेम और प्रभु पर पूर्ण भरोसा है। परन्तु एकमेक होकर जब तक प्रिय के पास वह सो न ले, तब तक यह नेह ही कैसा।[126]

निर्गुणसंतों की कान्तासक्ति वाली भक्ति में शृंगार के दोनों पक्ष पाए जाते हैं, संयोग भी और वियोग भी। उदात्त शृंगार-भाव की विविध मनोदशाओं के वर्णन उनकी रचनाओं में मिलते हैं। काव्यशास्त्र में वर्णित संयोग और वियोग की सम्पूर्ण दशाओं से तुलना करने के बाद, संतों की भक्तिगत कान्तासक्ति के वर्णनों में ये सभी दशाएं मिल जाती हैं। भक्तिग्रंथों में दिए गए भक्ति के प्रकारों में से इन्हीं मुख्य भेदों को संत कवियों ने अपनाया है। संत, निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। वे मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित भक्ति के भेदों को मान्यता नहीं दे सके। खोज करने पर संतसाहित्य में अन्य आसक्तियों के सम्पूर्ण प्रकार भी मानसीकरण की शैली में उपलब्ध हो सकते हैं। पर उनका पक्ष गौण ही रहेगा। प्रधानता इन्हीं आसक्तियों की है, जिनका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है।

निर्गुणसंतों की भक्ति के साधन

भक्ति के साधन

ऊपर जिस भक्ति-भावना का उल्लेख किया गया है, उसकी उपलब्धि के साधनों का उपदेश भी सन्तों ने दिया है। मुख्य-मुख्य साधन निम्न लिखित हैं :—

1. सद्गुरु की सेवा।
2. परमात्मा की कृपा (इच्छा)
3. नामस्मरण तथा गुणकीर्तन
4. सत्संगति
5. आत्मसमर्पण

ऊपर जिन भक्ति के पाँच मुख्य साधनों का उल्लेख हुआ है उन में से नामस्मरण और गुरुसेवा पर संतों ने विशेष बल दिया है। पीछे भी इस सम्बन्ध में चर्चा हो चुकी है। यहाँ उसी बात को संक्षेप में दुहराया गया है। दोनों पक्षों पर अलग से विचार किया जाएगा और यह बताया जाएगा कि संतों के प्रस्तुत विचारों के प्रेरणा-स्रोत क्या हैं।

गुरुसेवा

ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर यह कह सकते हैं कि वैदिकयुग के पुरोहित का स्थान उपनिषत्काल में ऋषियों ने अध्यात्मगुरु के नाम से प्राप्त कर लिया था। परा अर्थात् ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में जाना अत्यावश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य माना गया। उसके बाद भी अध्यात्मसाधना में गुरु का महत्व सर्वोपरि बना रहा है। तान्त्रिक-साधनाओं के युग में गुरु द्वारा पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता को अधिकाधिक बल मिला है। सिद्धों और नाथपन्थी योगियों द्वारा प्रचारित अन्तःसाधना गुरु के निर्देशन के बिना लाभ के स्थान पर हानिप्रद बतलाई गई है। वैष्णवाचार्यों ने भी गुरु के

महत्व को स्वीकार किया है। सन्त परम्परा में भी गुरु का महत्व सर्वोपरि माना जाता है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि लोक और वेद के व्यवहार में भटक रहा जीव, गुरु के पथप्रदर्शन के अभाव में आवागमन के चक्कर से मुक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकता। उसकी अज्ञानता केवल गुरु की कृपा के प्रकाश से ही दूर हो सकती है।

कबीर ने इस बात पर सबसे अधिक बल दिया है कि गुरु ही ज्ञान का मार्ग बतलाता है। वही भक्त के हृदय में प्रभु के विरह की चिनगी फेंकता है। सन्तों ने गुरुओं के प्रति अनन्य भक्ति का भाव तथा निष्काम बुद्धि से कर्म विधान को अपनाए रखने की बार-बार चर्चा की है। कबीर का कहना है कि उन्हें भक्ति के अमृत की प्राप्ति गुरु की सेवा के फलस्वरूप हुई है।[127] नानक ने तो अपने मूलमन्त्र में, अन्त में 'गुरु परसादि'[128] का प्रयोग कर परमात्मा की कृपा की प्राप्ति के लिए गुरु की शरण और उसकी कृपा को अनिवार्य मान लिया है। कबीर भी गुरु के बिना भगवत्कृपा की उपलब्धि असम्भव मानते हैं।[129] कबीर गोविन्द और गुरु के एक साथ भेंट हो जाने पर गुरु के चरणों में ही बलिहारी होते हैं। उनके कथनानुसार यदि गुरु की कृपा होगी तो गोविन्द मिल ही जाएँगे।[130] नानक ने सर्वत्र गुरु के 'शब्द' द्वारा परमात्मा के दर्शनों की शर्त ही लगा दी है।[131] उन्हें गुरु ने ही मनुष्य से देवता बनाया है।[132] उसी ने सुधी मूठ भरकर प्रभु के प्रेम का बाण चलाया है।[133] कबीर का भीतर गुरु के चलाए भक्ति-बाण से घायल हुआ है।[134] गुरु के द्वारा चलाए गए भक्ति के तीर के कारण वे कानों से बहरे, पाँवों से पंगुले और संसार के प्रति पूर्ण विरक्त बने हैं।[135] चेतन की चौकी घर बैठकर गुरु ही ने उन्हें धीरज दिया और निःशंक तथा निर्भय होकर केवल प्रभु के ही भजन में लगाया।[136] संतों ने, दूध और पानी के मेल की तरह गुरु और गोविंद में भेदभाव माना ही नहीं। उनके विचार में प्रभु की भक्ति का साधन एक मात्र गुरु है। कबीर ने प्रेम का 'पासा' पकड़ा, शरीर को 'सारी' बनाया और प्रभु की भक्ति का खेल खेलने लगे। भक्ति की प्राप्ति के लिए आवश्यक सभी साधनों से भरपूर हो जाने के बाद कबीर की जीत भला क्यों न होती, जब कि प्रभुभक्ति की प्राप्ति का दाँव गुरु ने बतलाया हो।[137]

प्रभु की कृपा

सन्तकवियों ने भक्ति की साधना में प्रपत्ति-सिद्धान्त का अत्यधिक आश्रय लिया है। प्रपत्ति में भक्त भगवान् के आगे पूर्णतया अपने आपको अर्पण कर देता है। कबीर ने अपने आपको भगवान् के चरणों में अर्पित करते हुए उनसे अपनी रक्षा की याचना की है।[138] प्रभु के चरणों की शरण में जाने के लिए भी प्रभु की कृपा ही सहायक है। सन्त कवि 'अहंभाव' के सर्वथा त्याग के सिद्धान्त पर इसी कारण बार-बार बदल देते हैं। वे कर्मण्य होकर भी अपने प्रयत्न के प्रति सदा दीन भाव बनाए रखते हैं। उन्हें अपने कर्मों पर नहीं अपितु अपने भगवान् की कृपा पर भरोसा है। इसीलिए उन्होंने भगवत्कृपा पर अधिक बल दिया है। कबीर अपने राम से विनय करते हुए कहते हैं, "हे राम! मुझे केवल आप ही का भरोसा है, तुम्हें छोड़ कर और किससे विनय या

निहोरा करूँ।''[139] नानक ने हर समय भगवत्कृपा की याचना की है। उनका विचार है कि भगवत्कृपा के बिना जीव के लिए साँस लेना भी संभव नहीं है। निर्गुणिए सन्त नाम-रूप संसार को भगवान् की कृपा से ही चल रहा बतलाते हैं।[140] तीसरे गुरु ने प्रभु की कृपा को अनिवर्चनीय तथा वर्णनातीत बतलाया है।[141] नानक एवं उनके परवर्ती गुरुओं ने गुरुभक्ति तथा नामसिमरन पर बार-बार बल दिया है। पीछे बतलाया जा चुका है कि नाम और नामी में नानक अन्तर ही नहीं मानते। उनके विचार में सद्गुरु की प्राप्ति और नाम की भिक्षा प्रभु की कृपा की देन है।[142] जीव का उद्धार परमात्मा की कृपा से ही सम्भव है। हरि की अनुकम्पा के अभाव में सभी कुछ निष्प्रयोजन है; व्यर्थ है। परमात्मा की कृपा का एक ही साधन प्राप्त हो जाने पर शेष सम्पूर्ण साधन हाथ बाँधे आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं।

नामस्मरण तथा गुणकीर्तन

सन्त साहित्य में भक्ति के साधनों में 'नामस्मरण' एवं 'गुणकीर्तन' पर विशेष बल दिया जाता है। कबीर बार-बार मन को राम के नाम के स्मरण की चेतावनी देते हैं।[143] उन्हें वही भक्त प्रिय हैं, जिन्हें नित्य प्रति राम के गुणों के कीर्तन की लिव लगी है।[144] नानक ने नाम स्मरण का अर्थ 'प्रभु का सतत चिन्तन' किया है। उनका विचार है कि जीव किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, उसे राम के नाम को कदापि भुलाना नहीं चाहिए।[145] एक स्थल पर नामस्मरण की चर्चा करते हुए उन्होंने प्रभु से याचना की है, "हे प्रभो! मैं किसी भी अच्छी या बुरी स्थिति में क्यों न होऊँ, मुझे तेरे नाम के स्मरण और गुणों का कीर्तन भूले नहीं"। नामस्मरण द्वारा यम का भय नहीं रहता और काम आदि वासनाएँ नाम का सिमरन करने वाले पर अपना दूषित प्रभाव नहीं डाल सकतीं। जीव को आवागमन के चक्कर में भटकना नहीं पड़ता।[146]

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने नाममाहात्म्य को मध्ययुग के भक्तों की मुख्य विशेषता माना है।[147] 'जपुजी' में नानक ने नाम के अभाव में सभी कुछ व्यर्थ बतलाया है[148] और दिन रात राम के नाम में रमते रहने का उपदेश दिया है। नाम ही को जप, तप, संयम आदि सभी कुछ माना है।[149] उनकी दृष्टि में नामका महत्त्व अमूल्य है।[150] यदि नाम नहीं तो होम, यज्ञ, पुण्य, पूजा, तप सभी कष्ट के कारण हैं। राम के नाम के अभाव में मुक्ति की प्राप्ति की आशा केवल निराशा है।[151] योग का अभ्यास नाम के स्मरण के अभाव में केवल शारीरिक यातना है।[152] सन्तों द्वारा वर्णित अजपा-जाप, नामस्मरण है। नामस्मरण द्वारा साधक, साध्यरूप हो जाता है।[153] कबीर ने कीर्तन को भक्ति के प्रधान साधनों में माना है।[154] नानक का तो कीर्तन में अडिग विश्वास है। वापिस करतारपुर लौट कर वह प्रतिदिन प्रभु के गुणों का कीर्तन नियमित रूप से किया करते थे। कीर्तन नानक द्वारा प्रचारित भक्तिसाधना का मुख्य अंग है। कबीर ने भक्तसमाज को कीर्तन के लिए प्रेरित करते हुआ कहा है :—

कबीर कहता जात हूँ सुनता है सब कोई ।
राम कहे भला होएगा नहिं तर भला न होई ॥

क० ग्रं० पृ० 40 ।

सत्संगति

सन्त सम्प्रदाय में सत्संगति को मन की शुद्धता, आचरण की पवित्रता तथा भगवान् के चरणों में शरण लेने की योग्यता की साधना के रूप में स्वीकार किया गया है । सत्संगति के अभाव में शास्त्रीयज्ञान, यौगिक क्रियाओं के सम्पादन में निपुणता, सभी व्यर्थ है । कबीर का यह विश्वास है कि संगति के कारण ही व्यक्ति अच्छा या बुरा बनता है ।[155] उन्होंने साधुसंगति की शरण की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया है । [156] सिक्ख-सम्प्रदाय में साधु की संगति तथा गुरु की प्राप्ति को धर्म का प्रधान आधार माना जाता है । परमात्मा से बार-बार साधु की संगति का प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती है ।[157] सत्संगित वह पारस पत्थर है, जिसका स्पर्श करते ही भक्त लोहे से कंचनमय बन जाता है । पापी इसके प्रभाव से शुद्धहृदय बन कर गुरु की कृपा प्राप्त करता है । काष्ठ की संगति में लोहे की भाँति जीव भी सत्संगति द्वारा भव के सागर से तर जाता है ।[158] गुरुओं ने संत और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं माना है ।[159] दादू प्रेमाभक्ति को दृढ़रूप प्रदान करने के किए सत्संगति की आवश्यकता पर बल देते हैं । उनका विचार है कि सत्संगति के प्रभाव के कारण ही भक्त में प्रेमाभक्ति की रुचि पैदा होती है ।[160] पलटू ने राम की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ सत्पुरुष की संगति को माना है, क्योंकि यदि सत्पुरुष की संगति प्राप्त हो गई तब परमात्मा की उपलब्धि में संदेह ही नहीं रह जाता ।[161] गुरु अर्जुनदेव ने साधु की संगति के प्रभाव के कारण भव के बन्धन से मुक्ति की आशा दिलाई है ।[162] सत्संग के बारे में कुतर्क को संत हेय मानते हैं । सत्संगति का अर्थ, "परमात्मा से साक्षात्कार कर चुके, उसकी अराधना में लगे हुए भक्तों के प्रति श्रद्धा और विश्वास की भावना बना कर उन के पास बैठना और विचार विनिमय करना" है ।

संत-कवि मथुरा, द्वारिका, जगन्नाथ आदि तीर्थ-स्थानों को साधुजन की संगति एवं हरि की प्राप्ति के बिना व्यर्थ बतलाते हैं ।[163] साधुसंग की प्राप्ति और राम के मिलन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है । [164] साधुसंगति का चन्दन निकटवर्ती आक और पलाश के वृक्ष की स्थिति वाले लोगों को भी अपने सरीखा बना लेता है ।[165] कोट की खाई का पानी कोई नहीं पीता परन्तु गंगा में मिल कर वही पानी गंगोदक बन जाता है ।[166] कबीर भक्ति को हजरी का कपड़ा बतला कर उसमें मैल का समाना असम्भव मानते हैं ।[167] सत्संगति के अभाव में जीव सांसारिक आकर्षणों के प्रति विरक्त तथा प्रभु की भक्ति की ओर उन्मुख हो, परमात्मा का कृपापात्र बनता है परन्तु इसके अभाव में सभी कुछ व्यर्थ है ; क्योंकि बिना सत्संगति के विश्वास नहीं, प्रेम का भाव नहीं, विरह की चिनगी नहीं । जीव में यदि ये गुण ही नहीं, तब प्रभु की भक्ति होगी ही क्यों कर ? इसीलिए संतों ने भक्ति के साधनों में सत्संगति को मुख्य स्थान दिया है ।

अर्पण की भावना

निर्गुणमार्गीसन्तों ने रागानुगा भक्ति में पूर्ण रूप से अर्पण के भाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। कबीर ने अपने आपको परमात्मा को अर्पण करने की तुलना पतिव्रता नारी से की है। वह लिखते हैं, कि "पतिव्रता स्त्री कैसी भी क्यों न हो, वह अपने प्रिय को प्रत्येक रूप में प्यारी लगती है।" वह उसी जीवरूपी स्त्री को सुहागिन बतलाते हैं, "जो अपना तन, मन और जीवन परमात्मारूपी प्रियतम को समर्पित कर देती है।"[168] अपने आप को उपास्य के चरणों में अर्पण करने की दशा में भक्त अपने स्वयं को प्रत्येक की दृष्टि में प्रभु से हेय मानकर उस की कृपा की याचना करता है। वह अपना सभी कुछ अपने प्रिय को समर्पित कर निश्चिंत हो जाता है।[169] नानक ने अपने आपको अगम, अपार, अलख, अगोचर प्रभु के आगे समर्पित कर हर प्रकार की चिन्ताओं से मानों पूर्ण अवकाश प्राप्त कर लेने का सन्तोष प्राप्त किया है।[170] गुरु अर्जुनदेव अपनी शक्ति पर तनिक भरोसा नहीं करते। वह तो प्रभु की शरण में ही कल्याण की आशा लगाए बैठे हैं।[171]

भक्ति के जिन उपर्युक्त मुख्य मुख्य साधनों या साधक तत्त्वों का उल्लेख हुआ है, इन से अतिरिक्त भी कई साधन हैं, जिन्हें जीवन में अपना कर चलने का संतकवि उपदेश देते रहे हैं। परन्तु उन सब का इन्हीं में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

भक्ति के मार्ग की बाधाएँ

मानसिक विकार

भक्ति के मार्ग में मानसिक विकार बहुत बड़ी बाधा है। मानसिक विकारों को माया के प्रतीक बतलाया गया है। माया का आकर्षण भक्त को भगवदुन्मुख होने से रोकता है। मानसिक विकारों में काम-विकार की संतों ने विशेष चर्चा की है। काम मानव जीवन की प्रबल प्रवृत्ति है। संतों ने उसका दमन असम्भव जान कर उसके उदात्तीकरण का उपदेश दिया है। भक्ति के क्षेत्र में काम के उदात्तीकरण से उनका आशय बहिर्मुखी असत्प्रवृत्तियों अथवा आसक्तियों को अंतर्मुखी बना कर परमात्मा के प्रति नियोजित कर देने से है। इसी लिए कबीर ने उस काम की निन्दा नहीं की जो जीव को राम से मिलाने का हेतु है। मलूकदास काम पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उसे राम से मेल स्थापित करवाने में सहायक मानते हैं[172] कबीर ने मन के सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों को काम के अन्तर्गत माना है।[173] उनके विचार में मन पर विजय लाभ करना ही काम को जीतना है। मन पर काबू न होने से भक्ति में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।[174] दादू कामरूपी विषधर के लिए गुरुरूपी गारुड़ी की शरण में जाने का उपदेश देते हैं[175]। तथा मन को काम का आधार मान, उसे मृग के रूप में वर्णन कर ज्ञानरूपी असिधार से उसे मार डालने के प्रयत्न को सराहनीय मानते हैं।[176] नानक तथा उनके परवर्ती दूसरे गुरुओं ने भी मानसिक विकारों को भक्तिमार्ग की बहुत बड़ी बाधा माना है।

ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास ही भक्त का सर्वप्रधान सम्बल है। कबीर का अपने

ईश्वर में अविश्वास

राम के अस्तित्व में केवल विश्वास ही नहीं है बल्कि उसकी परमशक्ति तथा करुणा के भाव के प्रति उनकी दृढ़ आस्था भी है । नानक बार-बार दृढ़ विश्वास के साथ 'एक निरंकार, की सत्ता की घोषणा करते हैं । सुन्दरदास ने ईश्वर के अस्तित्व के विश्वास के अभाव में जीव के बारे में उसके व्यर्थ में ही मृत्यु का ग्रास बनने की चर्चा की है ।[177] इस तरह अविश्वास को भक्तिमार्ग की बहुत बड़ी बाधा माना गया है ।

पाखण्ड

पाखण्ड से संतकवियों का आशय हर प्रकार के बाह्याडम्बर से है । यही कारण है कि उन्होंने 'भेख' का ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया है ।[178] कबीर कोरे ज्ञान को पाखण्ड मानकर पंडित द्वारा भीतर की वस्तु न पहचानने की चर्चा करते हैं । केवल सिर के बाल मुण्डवा कर अपने आप को संन्यासी मानने वालों के बारे में वह लिखते हैं, "तुम्हारे सिर के केशों ने क्या अपराध किया है, जो इन्हें सैंकड़ों बार मुण्डवाते हो । सांसारिक विषय-विकारों की ओर ले जाने वाले मन को क्यों नहीं मूँडते[179] दादू ने बाहरी आडम्बरों की भक्ति का वेश बनाकर न चलने वाले तथा व्यर्थ के वादविवाद के झाड़े में न पड़ कर हृदय में प्रभु की मूर्ति को बसा, उसका निरन्तर चिन्तन करने वाले भक्त की प्रशंसा के माध्यम से पाखण्डों का खण्डन किया है ।[180] नानक तो पाखण्डों के विरोध में हर समय तैयार रहते थे । उनकी जन्म-साखियों में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें उन्होंने पाखण्डों का अपनी निराली शैली अथवा रीति से विरोध और खण्डन किया है ।

कुसंगति

जिस प्रकार सत्संगति अनपायिनीभक्ति की प्रदायिनी है, उसी प्रकार कुसंगति भक्ति के पथ की बहुत बड़ी रुकावट है । संतों ने केले और बेर के वृक्षों के माध्यम से बुरे व्यक्ति के संग की निन्दा की है ।[181] नानक ने 'गुरुमुख' तथा 'मनमुख' के रूप में जीवों के दो भेद किए हैं । और उन्हें मनमुख' की कुसंगति से कोसों दूर रहने की चेतावनी दी है । शाक्तों का संग संतों ने सदा कुसंग माना है और उनसे सदैव अलग रहने का उपदेश दिया है । विस्तार-भय के कारण केवल इतना कहना हा पर्याप्त है कि कुसंगति, भक्ति के मार्ग में उसी प्रकार सबसे बड़ी बाधा है जिस प्रकार सत्संगति सबसे बड़ा वरदान है । भक्ति के मार्ग में अन्य भी कई अवरोधक शक्तियाँ हैं परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में उन की विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं है । उन सभी विरोधी तत्त्वों का समाहार इन्हीं मुख्य-मुख्य अवरोधक तत्त्वों में किया जा सकता है ।

दूसरा अध्याय

निर्गुणसंतों की भक्तिसाधना की पृष्ठभूमि

निर्गुणसन्तों की भक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ पीछे कह आए हैं वह परम्परा से अलग एवं पूर्णतया स्वतन्त्र विचारधारा नहीं है। कबीर ने अपनी भक्ति को 'नारदी भक्ति' कहा है। वैदिकयुग की ऋचाओं के समय से लेकर भगवतों की भक्ति, वैखानस सूत्रों, आगमों, पांचरात्रसंहिताओं, तथा परवर्ती नव्यवैष्णवों के ग्रन्थों में भक्ति के सम्बन्ध में जो कहा गया है निर्गुणसंतों ने उसे पर्याप्त सीमा तक स्वीकार किया है। अन्तर केवल अवतारवाद और प्रतिमापूजन एवं अन्य वैधी उपकरणों के सम्बन्ध में है तथा उनके सिद्धान्त और साधना पक्ष में है। वे अवतारवाद को नहीं मानते। इसलिए अवतारी भक्ति के वैधी रूप को भी स्वीकार नहीं करते। उन्होंने प्रभु को निर्गुण और निराकार मानकर उसकी भक्ति की है। भक्ति के क्षेत्र में उपास्य और उपासक का अन्तर बना रहता है। अतः भक्ति के उद्गारों को अभिव्यक्त करते समय निर्गुणियों का निर्गुणरूप परमात्मा भी गुणों और शक्तियों का भण्डार बन जाता है। निर्गुणसंतों की भक्ति की पृष्ठभूमि या प्रेरणा-स्रोतों की जानकारी जरूरी है क्योंकि इस प्रकार भक्ति-सरिता की अक्षुण्ण भाव से प्रवाहित विविध धाराओं के परिज्ञान के साथ ही उन की भक्ति सम्बन्धी विशेषताओं का पता भी लगाया जा सकता है।

भक्ति की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति

किसी आदर्श व्यक्ति के बारे में श्रद्धा एवं भक्ति की भावना मानवजीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कह सकते हैं कि आदर्श व्यक्तित्व धीरे-धीरे भगवान् मान लिए गए हैं। परात्परसत्ता के रूप में परमात्मा के निर्गुणस्वरूप के सिद्धान्त की स्थापना से पहले मानवहृदय के भक्तिभाव ने प्राकृतिक शक्तियों में देवत्वभावना का आरोप किया और भक्ति के आरम्भिक रूप का निर्माण हुआ। जन्मान्तरवाद एवं मुक्ति के प्रति विश्वासी बनकर जीव परमात्मा की भक्ति करने लगा। जब तक मुक्ति के सिद्धांत की स्थापना नहीं हुई थी, तब भी अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के लिए मानवसमाज देवताओं की भक्ति करता था। आर्य जाति 'स्वर्गकामोयजेत' की प्रेरणा से यज्ञ करती थी। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में उनके देवता को योगी की मुद्रा में आसीन बतलाया गया है परन्तु निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस साधना का लक्ष्य क्या था। लिंग और योनि के प्रतीकों के दोनों अर्थ

किए जा सकते हैं अर्थात् उन्हें प्रजननशक्ति का प्रतीक भी मान सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि उस समय का समाज सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नत था और संभवत: लिंग और योनि के प्रतीकों में शिव नामक परमसत्ता द्वारा सृष्टि की रचना के सांकेतिक अर्थों को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

वैदिकयुगीन भक्ति भावना

ऋग्वेद के रचनाकाल के समय के मनीषियों ने सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों में दैवीयशक्ति की सत्ता को माना और उनके प्रति भक्ति-भावना से प्रेरित हो स्तुतिपरक ऋचाओं के रूप में प्रार्थनागीत गाए अथवा बिना किसी प्रकार के देवत्व का आरोप किए ही उन्हें भय और सुविधा आदि प्रदान करने में समर्थ मान कर उनके प्रति कृतज्ञता आदि भावों को अभिव्यक्त किया है। धीरे-धीरे बहुदेववाद से एकदेववाद विकसित हुआ और भगवान् की शक्ति के रूप में अनेक देवी देवताओं की उपासना की जाने लगी। पहलेपहल वह प्रकृति के किसी एक रूप पर देवत्व का आरोप करता था परन्तु उसके बाद उन्ही देवताओं में से किसी एक को परमदेव मानकर वह उसी की भक्ति करने लगा। कुछ देर तक भक्ति की साधना के क्षेत्र में यही क्रम चलता रहा।

ऋग्वेदकालीन समाज किसी एक देवता की स्तुति करता था और उसे ही सब से बड़ा देवता मान लेता था। बाकी के देवता उसी परमदेव की विभिन्न विभूतियों के रूप में पूजा और प्रार्थना के विषय स्वीकार कर समय-समय पर 'परमदेव' भी मान लिए जाते रहे हैं। 'परमदेवता' की यह पदवी किसी एक देवता से हटाकर दूसरे देवता को भी दे दी जाती थी। इस प्रकार जो जिसे परमदेव मान लेता था वह उसी को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा आनन्दस्वरूप बतलाता और तदनुकूल ही उसकी स्तुति के गीत गाने लगता। संक्षेप में यही उस युग की भक्ति भावना है।[1]

वैदिककाल में यज्ञयागादि के रूप में कर्मकाण्ड ने सर्वाधिक प्रधानता प्राप्त कर ली। अत: उस युग की परिस्थितियों में भक्ति की साधना का व्यवस्थित रूप निर्मित न हो सका। अवतारवाद के सिद्धान्त पर आधारित भागवतभक्ति के शास्त्रीय विवेचन की ओर ध्यान न देते हुए यदि भक्ति-भावना को ही सम्मुख रखा जाए तो ऐसा लगता है कि भागवत-भक्ति में वर्णित सम्पूर्ण आसक्तियों के रूप वैदिकऋचाओं में मिल जाते हैं। परवर्ती भक्ति-सिद्धान्त की शास्त्रीय चर्चा का जैसा रूप इन प्रार्थनाओं का नहीं है। भागवतभक्ति में प्रभु के जिन गुणों तथा शक्ति की चर्चा की जाती है उसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि उसका आरम्भिक रूप वैदिक भक्ति में मिल जाता है। वैदिकऋषियों ने देवताओं में सर्वप्रमुख देवता को 'प्रजापति' नाम देकर उसे सृष्टि का रचयिता, पालक और नियामक माना है।[2] उसे न्यायकर्ता[3], शासक[4] तथा दयालु[5] कहा है। अपने सुख और कल्याण की कामना के लिए उसका शरणागत बनकर उपास्य देवता के रूप में उसकी प्रार्थनाएँ की हैं।[6] अपनेआप को निस्सहाय और निर्बल माना गया है तथा अनुग्रह की भीख के लिए हाथ फैलाए गए हैं। उसकी शरण में जाने के

लिए तीव्र व्याकुलता का अनुभव भी किया गया है।[7] उपासकों द्वारा प्रभु के दर्शनों के लिए लालसा और उत्कण्ठा के उद्‌गार अभिव्यक्त हुए हैं और विरह की बेचैन घड़ियाँ भी व्यतीत की हैं।[8] प्रभु के आगे नतमस्तक होकर विनय भरी ऐसी प्रार्थनाएँ की हैं कि वह अपने उपासक को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर लगाए।[9] वैदिक ऋषियों ने भगवान् को 'परमदेवता' कहकर अपनी रक्षा और कल्याण के लिए उसका आह्वाहन किया है। 'नासदीय सूक्त' में यद्यपि 'निर्गुणब्रह्म' के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में चिन्तन करना आरम्भ हो चुका था परन्तु उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान से पहले तक ऋषि (वैदिक आर्य) परमदेव की पदवी कभी इन्द्र, कभी अग्नि और कभी वरुण आदि भिन्न-भिन्न देवताओं को ही देते रहे हैं। उन्होंने जिसे 'परमदेव' माना उसी के आगे 'असन्मार्ग की ओर से हटा कर सन्मार्ग की ओर ले जाने की' प्रार्थनाएँ की हैं।

अहिर्बुध्न्य आदि संहिताओं, 'नारदभक्तिसूत्र' तथा भागवतपुराण प्रभृति भागवत-धर्म के ग्रन्थों में उपलब्ध आसक्तियों का वर्णन उसी रूप और प्रेरणा में वैदिक ऋचाओं में नहीं हुआ है यद्यपि इस प्रकार के कहीं-कहीं संकेत अवश्य मिलते हैं। प्रार्थनाओं के रूप में ये आसक्तियाँ वैदिक भक्ति में भी मिलती हैं। अतः 'नारदभक्तिसूत्र' तथा 'भागवतपुराण' में प्रतिपादित आसक्तियों के भाव वैदिक भक्ति के भावों से दूर नहीं हैं।[10] भागवत-भक्ति के शास्त्रीय ग्रन्थों में भक्त के लिए जिस प्रकार का आचरण करने का उपदेश है, उसी तरह के विवरण वेदमन्त्रों में भी मिल जाते हैं। वेद का ऋषि भी शरणागति, अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्व-वरण, रक्षा में विश्वास, आत्मनिक्षेप तथा कार्पण्य आदि साधनों एवं भावों की चर्चा करता है। सात्वत भक्ति में भक्त के लिए अनुकूल गुणों का धारण करना आवश्यक बतलाया गया है। वेदमन्त्र भी उन गुणों को धारण करने का उपदेश देते हैं।[11] इन्द्रियों के वशीभूत न होकर उन्हें अपने काबू में रखने के आदेश दिए गए हैं।[12] जीवन की पवित्रता के लिए ज्ञान, कर्म और प्रेम के साधन अपनाने की प्रेरणा[13] तथा कुमार्गगामी व्यक्ति के लिए प्रभुप्राप्ति को असम्भव बतला कर उसे सुमार्गगामी बनाने के लिए प्रार्थनाएँ भी वैदिकऋचाओं से उद्‌धृत की जा सकती हैं।[14]

संहिताभाग में ब्रह्म के सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों रूपों के वर्णन मिलते हैं।[15] प्रभु को अनन्त शक्तियों का स्वामी माना गया है। मन की शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं और अपने आपको निर्बल मानकर 'भगवदनुग्रह' की शरण की याचना की गई है। विरह की वेदना के लिए उत्सुकता के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रेमाभक्ति को ज्ञान तथा कर्म के समकक्ष माना गया है। सत्संकल्प को अपनाने का उपदेश है। ब्रह्मचर्य तप, व्रत, सत्यविवेक, दान, सत्संग और मैत्रीपूर्ण व्यवहार आदि चरित्र का निर्माण करने वाले अच्छे गुणों को धारण करने के लिए प्रेरित किया गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि भागवतधर्म की भक्ति में स्वीकृत भक्ति की सम्पूर्ण विशेषताएँ संहिताभाग के साहित्य के भक्तिप्रधान वर्णनों में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान हैं। अवतार के सिद्धान्त की उपस्थापना के बाद भक्ति के क्षेत्र में जो

पूजा आदि बाह्य विधान स्वीकार किए गए, वे वैदिक तथा भागवतभक्ति को एक दूसरे से अलग करते हैं। वैदिक युग कर्मप्रधान था। ज्ञान और भक्ति तब गौण स्थिति में थे। ब्रह्मज्ञान या अध्यात्मविद्या के अनुकूल पृष्ठभूमि का निर्माण अभी हो रहा था। प्रधानता अब भी किसी एक देवता को देवाधिदेव मान कर उसके प्रति श्रद्धा के भाव अभिव्यक्त करने की थी। अवतारवाद के लिए अभी तक आधार ही नहीं बन पाया था। गीताप्रतिपादित भक्ति तथा परवर्ती भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर वैदिक युग में भागवतभक्ति की खोज करना ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वैदिककालीन भक्ति उस समय की परिस्थितियों और भावनाओं के अनुरूप है। उसमें किसी प्रकार के दार्शनिक-सिद्धान्तों तथा साधना की पद्धतियों का आग्रह नहीं है। वह तो केवल परवर्ती भक्ति के विकास की मात्र आधारभूमि है। धीरे-धीरे उसी का विकास महाभारतकाल में एक निश्चित सिद्धान्त तथा साधना-मार्ग का रूप धारण कर नयी परम्परा को स्थापित करने में सहायक हुआ है।

उपनिषत्काल में भक्ति का स्वरूप

संहिताकाल की धर्मसाधना यज्ञप्रधान है। उसे कर्मकाण्ड प्रधान युग कहा जा सकता है। याज्ञिक विधिविधानों की जटिलता तथा पुरोहितवर्ग के एकाधिकार के इस युग में एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ। फलस्वरूप कर्मकाण्ड प्रधान यज्ञों की अध्यात्मपरक व्याख्याएँ की जाने लगीं। इस प्रकार कर्मकाण्ड का स्थान ज्ञानकाण्ड ने ले लिया। धीरे-धीरे 'बहुदेववाद' का सिद्धांत परब्रह्म के सिद्धान्त में बदल गया। परमसत्ता को अद्वैत माना जाने लगा। ऋग्वेद के समय में ही 'नासदीय-सूक्त' में सर्वव्यापक अद्वैतसत्ता के बारे में सोचा जाने लगा था। उसी समय योग और भक्ति के सिद्धान्त के संकेत भी प्राप्त होने लगते हैं। मुक्ति के लिए यज्ञों के स्थान पर दूसरे प्रकार के साधनों की भी खोज की जाने लगी। 'पराविद्या' के नाम से अध्यात्म-चिन्तन के मार्ग पर चलने के उपदेश दिए गए। चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन के लिए चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता अनुभव हुई। चित्त को एकाग्र करने के लिए 'परब्रह्म' के किसी सगुण प्रतीक के बिना काम नहीं चलता। हम यह भी देखते हैं कि उपनिषदों के ऋषियों ने विभिन्न लोकों और उन के अधिष्ठातृ देवताओं की मान्यता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया है। ब्रह्म की उपासना कई रूपों में तथा अधिकारी भेद से बतलाई गई है। क्योंकि परमतत्त्व 'अद्वैत' है इसलिए अन्य देवताओं को उसी परात्पर-सत्ता की विभिन्न विभूतियाँ माना गया है। प्रत्येक साधक का भक्ति-स्वर एक जैसा नहीं होता, इसलिए योग्यता के अनुसार ब्रह्म की शक्तियों की उपासना का विधान किया गया है। उपनिषदों में भी उपासना के लिए श्रद्धाभाव के महत्त्व पर बल दिया गया। कठोपनिषद् में ईश्वर के प्रति विश्वास रखने वाले को आत्मोपलब्धि का अधिकारी बतलाया है।[16] छान्दोग्य तथा मुण्डक में भी श्रद्धा द्वारा अव्ययात्मा की प्राप्ति से सम्बन्धित विचार प्रकट किए गए हैं।[17] कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता से तर्क की अवहेलना का उपदेश देते हुए कहा है कि केवल 'श्रद्धा' ही इस नाम रूपात्मक संसार में

परब्रह्म के दर्शन करवा सकती है।[18] उपासना के लिए प्रतीक की आवश्यकता पर बल दिए जाने पर भी उपनिषत्काल में परमेश्वर के अवतार धारण करने के सिद्धान्त की सीधी चर्चा नहीं है। यद्यपि वैष्णवाचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रमाणिकता के लिए इस प्रकार के संकेतों के उल्लेख किए हैं। उपनिषदों में अधिकतर शब्दब्रह्म के रूप में ही प्रतीक की उपासना का विधान हुआ है। योग द्वारा ईश्वरप्रणिधान की सिद्धि के सम्बन्ध में प्रतीक और श्रद्धा के भाव को मान्यता देना स्वाभाविक विकासक्रम है। श्रद्धा के भाव की आवश्यकता आधुनिक युग के दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों ने भी अनुभव की है यद्यपि उन्होंने श्रद्धा या आस्था की परिभाषाएँ बदल दी हैं।

आर्थर एडिंगटन अपने ग्रन्थ 'फिलासफी' ऑव् फिजिकल साइंस' में लिखते हैं कि ; युक्ति तथा तर्क के इस युग में भी श्रद्धाभाव सर्वोपरि बना हुआ है। एल्बर्ट आइन्स्टाईन ने भी अपनी पुस्तक 'आउट ऑव् माई लेटर यीअर्स' (Out of my later years) में लिखा है कि विज्ञान के जन्मदाता वे ही हैं, जो विचार तथा सत्य की खोज की प्रेरणा से पूर्ण हैं।.....मैं यह सोच भी नहीं सकता कि एक सच्चा वैज्ञानिक विश्वास के अभाव में कुछ भी कर सकता हो। भक्ति का मूलाधार विश्वास या श्रद्धाभाव है। भक्तिमार्ग में गुरु का महत्त्व इसलिए है कि वह भक्त के हृदय में श्रद्धाभाव का दीपक प्रज्वलित करने में सहायता करता है। उपनिषदों में भी गुरु के महत्त्व से सम्बन्धित विचारों की कमी नहीं है। नामस्मरण द्वारा भक्ति की भावना को सुदृढ़ बनाने के उपाय भी उपनिषदों में विद्यमान हैं। उपनिषत्काल के ऋषियों ने लौकिक एषणाओं के प्रति वैराग्य का उपदेश देकर, प्रभु के प्रति पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धाभाव बनाए रखने के जो उपदेश दिए हैं, उनसे इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि भक्ति, श्रद्धा या विश्वास की आवश्यकता विश्वजनीन आवश्यकता है।

मन की शुद्धता तथा आचरण की पवित्रता के लिए किसी न किसी अलौकिक शक्ति के प्रति श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता बनी रहती है। उपनिषदों के रचनाकाल में अध्यात्मचिन्तन पर अधिक बल दिया गया है और यज्ञों के अध्यात्मपरक अर्थ भी किए गए हैं। सामूहिक शक्ति के रूप में आर्यजाति भी शक्ति, संयम, अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ करती रही है—तथापि व्यक्तिगत जीवन में उनने भगवान् के सम्मुख अपने अल्पज्ञ तथा निर्बल होने के भाव भी प्रकट करने आरम्भ कर दिए थे। सम्भवतः यह धारणा यहाँ के जनजीवन के विश्वासों का प्रभाव था अथवा सामाजिक जीवन के विकास में ऐसा ही सम्भव था। कारण कुछ भी हो, वास्तविकता यह है कि आर्य जाति ने भगवदनुग्रह का भाव अपना लिया था। इन परिस्थितियों के रहते हुए भी उपनिषत्काल में भक्ति की साधना के लिए गुंजाइश नहीं थी। आर्यजाति में अपनी वीरता और गौरव के प्रति स्वाभिमान पूर्ववत् विद्यमान था। उसे सर्वशक्तिमान् के तेज की आवश्यकता थी ताकि अपने धनुष की टंकार के उद्घोष से वह विजय पर विजय प्राप्त कर सके। अभी तक पुरोहित वर्ग के प्रभाव और कर्मकाण्ड की स्थापनाओं के स्तम्भ भी इतने निर्बल नहीं हो पाए थे। भक्ति की साधना में सांसारिक एषणाओं का त्याग कर अपने आपको प्रभु के चरणों में पूर्णरूपेण अर्पण

करने का विधान है। लेकिन ऐसी स्थिति अभी तक उत्पन्न नहीं हो सकी थी ; क्योंकि जातीय गौरव और व्यक्तित्व के महत्त्व को बनाए रखने की ऐतिहासिक आवश्यकता वैसी ही थी।

कर्म, ज्ञान और भक्ति के क्रमिक विकास के लिए उस युग के ऐतिहासिक कारण उत्तरदायी हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के बाद ज्ञान की प्रधानता के स्वाभाविक विकास का यही कारण है कि कर्म के बाद ज्ञान की साधना को धीरे-धीरे महत्त्व प्राप्त हुआ था। स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह के क्षेत्र में यही स्वाभाविक था। सम्भवत: ऐसी परिस्थितियों में भक्ति का विकास ज्ञान के बाद ही स्वाभाविक होता है। भारतीय धर्म के इतिहास में ज्ञान की साधना के भीतर से ही भक्ति ने अपने लिए स्वतन्त्र मार्ग का निर्माण किया है। उपनिषत्काल की रचनाओं के समय तक याज्ञिक विधिविधानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया की पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी। फलस्वरूप अध्यात्मज्ञान के मार्ग के अवरोध दूर हो रहे थे। वर्ण व्यवस्था के प्रति विरोध का भाव समाज में जन्म ले रहा था। इसीलिए उपनिषदों में वर्णव्यवस्था की कठोरता को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। तत्वज्ञान अर्थात् अध्यात्मचिन्तन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के सिद्धान्त का विशेष प्रचार हुआ है और इसी विचारधारा ने ही सम्भवत: सांख्यदर्शन की विचारधारा को जन्म भी दिया है। उपनिषत्काल के ऋषियों ने कर्म और भक्ति की अपेक्षा ज्ञान के मार्ग का ही अधिक प्रचार किया है, उनके चिन्तन का विशेष योगदान ब्रह्मविद्या में अद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। सांख्यदर्शन के विचार उस समय के समाज में अवश्य प्रचलित रहे होंगे। लोकायतसम्प्रदाय सांख्यविचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। विद्वानों का विश्वास है कि सेश्वरसांख्य परवर्ती सिद्धान्त है। आरम्भ में इस दर्शन में ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं था। इस दर्शन में प्रकृति तथा पुरुष दोनों को अनादितत्त्व माना जाता है। सेश्वरसांख्य का यह विकास परवर्ती घटना है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की ही विशेष चर्चा है। आरण्यकों में भी तत्त्वज्ञान पर बल दिया गया है। बाद में तत्त्व-ज्ञान के साथ ही श्रद्धा तथा विश्वास को भी ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक बतलाया जाने लगा। उस समय की भक्ति का यही रूप उपनिषत्साहित्य में हमें मिलता है। भक्ति के लिए स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में सामने आने का वह समय नहीं था। इस की चर्चा पीछे हो चुकी है। उस समय की प्रधान समस्या थी कर्मकाण्ड का विरोध करना। अत: उसके विरोध में ज्ञानकाण्ड को महत्त्व दिया गया जैसा कि स्वाभाविक था। उपनिषदों में 'ओंकार' 'शब्द-'ब्रह्म' या ब्रह्म का प्रतीक माना गया है[19]। ब्रह्म की विभूतियों अथवा विभिन्न स्वरूपों की चर्चा भी हुई है जैसा कि मनोमयब्रह्म, ज्ञानमयब्रह्म आदि। 'ओंकार' ब्रह्म का शब्दस्वरूप अथवा प्रतीक है। शुद्ध अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से ये स्वरूप भी निम्न श्रेणी के बतलाए गए हैं। उपनिषदों के ऋषि सृष्टि में दीख पड़ने वाली अनेकता को सत्य नहीं मानते[21] और यदि सत्य मानते भी हैं तो उसे 'ब्रह्म की सर्वव्यापक सत्ता' के सिद्धान्त की दृष्टि से ही ऐसा स्वीकार करते हैं। उनके विचार में पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही परमतत्त्व समाया हुआ है[22]। 'तत्त्वमसि' अर्थात् (ब्रह्म और देहात्मा एक हैं) यही उपनिषदों का सार-सिद्धान्त है[23]। उपनिषदों में यह

कहा गया है कि परमतत्त्व या परब्रह्म की चर्चा मुँह बंद करके ही की जा सकती है। आँखों से दिखाई न देने पर उसे देख सकते हैं और समझ में न आने पर भी हम उसे जान सकते हैं।[24] इसका अर्थ यही है कि हमें ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों के अनुभवों में ही श्रद्धा रखनी चाहिए[25]। इस प्रकार के विचारों में ही हमें उपासना के बीज प्राप्त होने लगते हैं। अध्यात्मज्ञान में साधना के रूप में उपासना के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है।[26] श्रद्धा की भावना द्वारा तद्रूप हो जाने की भावना के उल्लेख भी उपनिषदों में मिलते हैं[27]। इस बात के संकेत भी किए गए हैं कि श्रद्धा का फल प्रतीक में नहीं रहता। वह तो उस प्रतीक के प्रति भक्त या साधक के अन्तरिक भाव में रहता है। उपनिषदों में ब्रह्म के केवल निर्गुणस्वरूप की चर्चा नहीं अपितु उसे दोनों रूपों में वर्णित किया गया है। सगुण, निर्गुण और पुरुष, ऋतुमय है।[28]

ब्रह्म के साक्षात्कार का उपासनामार्ग उपनिषदों में उपनिषद्विद्या बतलाया गया है।[29] तदनुसार परमात्मा मनोमय, प्राणमयशरीर, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा सभी कुछ है।[30] अधिकारीभेद से उपासना का मार्ग अलग अलग है, जबकि ब्रह्म का सच्चा स्वरूप इससे भिन्न है।[31] महाभारत कालीन और परवर्ती भगवातधर्म में वासुदेव परमतत्त्व स्वीकार किए गए हैं।[32] उपनिषदों में जो अधिकारीभेद को दृष्टि में रखकर ब्रह्म की उसके विभिन्न रूपों में उपासना का विधान है, उसे अवतारवाद मानना ठीक नहीं है। उपनिषदों में भक्ति की चर्चा तो है परन्तु उसे भागवतभक्ति नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म के गुण तो उपनिषदों में भी माने गए हैं परन्तु उसके किसी गोचर स्वरूप की स्वीकृति की चर्चा नहीं है; अतः प्रस्तुत विवेचन से यह निर्णय निकाल सकते हैं कि उपनिषत्काल में वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति नए दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है और यज्ञों के अर्थ बदलने के प्रयत्न हैं। उनमें प्रतिपादित विचारों में ज्ञान की प्रधानता है परन्तु साथ ही भक्ति के आधार भी प्राप्त हैं क्योंकि इसी युग में पहली बार 'भक्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भागवतधर्म प्रधान रूप से भक्ति-धर्म है। यद्यपि उसमें उपनिषदों के ब्रह्म ज्ञान तथा सांख्य द्वारा प्रतिपादित क्षराक्षर-विचार का समन्वय भी हुआ है फिर भी ब्रह्म, वासुदेव या नारायण का अवतार-सिद्धांत ही मुख्य विषय है। गीताप्रतिपादित भागवतधर्ममें संहिताओं (वेदत्रयी) सांख्य तथा योग आदि का एक दूसरेसे समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न भी हैं। इसी कारण इसे पांचरात्र-धर्म कहा जाता है। उपनिषदों में रुद्र तथा विष्णु की भक्ति के संकेत मिलते हैं, क्योंकि उस समय ऐसी विचारधारा बन चुकी थी कि किसी भी उपास्यदेव को 'ब्रह्म' का प्रतीक मान कर उस की उपासना की जा सकती है।

गीता प्रतिपादित भागवतभक्ति के पूर्व एवं औपनिषदिक भक्ति के बाद

भगवद्गीता में ब्रह्म-ज्ञान का प्रतिपादन है और कापिलसांख्य के क्षराक्षर का विवेचन भी हुआ है। निष्कामकर्म के साथ ही भक्ति के सिद्धांत में विशेष आस्था प्रकट गई है। गीता में उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं तथा साधानाओं में परस्पर समन्वय

स्थापित करने के सफल प्रयत्न हैं। विद्वानों ने गीता की समन्वय-भावना को महत्त्वपूर्ण योगदान के रूप में स्वीकार किया है। कभी-कभी गीता के बारे में परस्पर विरोधी सिद्धांतों की चर्चा इसी समन्वय के प्रयत्न को न समझने के कारण ही की जाती है। जो केवल अध्यात्मवादी सिद्धांतों की ही खोज करना चाहते हैं, वे अपने पक्ष के समर्थन में गीता का प्रधान विषय ज्ञान मानते हैं। भक्ति को गीता का प्रतिपाद्यविषय मानने वालों ने इसे भक्तिदर्शन सिद्ध किया है। बालगंगाधर तिलक का विश्वास है कि ज्ञान और भक्ति की समान भाव से प्रतिष्ठा करते हुए भी गीता में कर्मयोग को ही प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है।

वैदिकधर्म का प्राचीन रूप कर्मकाण्ड प्रधान था, जिसे मीमांसक-मार्ग भी कहा जाता है। गीता में उसे त्रयीधर्म कहा गया है। उपनिषत्काल में यज्ञयागादि को 'निर्बल नौकाएं' सिद्ध कर ज्ञान या अध्यात्मविद्या को महत्व दिया गया था। ज्ञान विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति का नाम है। जबकि परमेश्वर तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का सत्यज्ञान ही ब्रह्मज्ञान कहलाता है। उपनिषत्काल में कर्मकाण्ड के विरुद्ध स्वतन्त्र चिन्तन का प्रचार करने वाले ऋषियों के दो दल बन गए थे। एक दल ब्रह्म के अनुभव अर्थात् ज्ञान के प्रति आस्थावान् था जबकि दूसरा तत्वज्ञान को ही मोक्ष का परमोपाय समझता था। तत्त्व-ज्ञानियों को द्वैतवादी कहा जाता है। ज्ञान की साधना के संबंध में दोनों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है परंतु कर्मकाण्ड का दोनों मिलकर समान भाव से खण्डन करते हैं। इसका परिणाम उस समय की परिस्थितियों में यह हुआ कि कर्म जो निष्काम है, तथा ज्ञान के समन्वय के बारे में भी दो विभिन्न दृष्टिकोण बन गए। एक दृष्टिकोण यह है कि ज्ञानोपलब्धि के उपरान्त जीव को कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे प्रकार के दृष्टिकोण के अनुसार, ज्ञान और कर्म को परस्पर विरोधी नहींसमझा गया है। अतः तदनुसार ज्ञान की प्राप्ति के बाद आजीवन निष्काम कर्म करते रहने पर बल दिया है।

उपनिषत्काल में ही ब्रह्मसाक्षात्कार कर चुके जीव और परमतत्व में, परस्पर अभेद के सिद्धान्तको भी स्वीकार कर लिया गया था।[33] गीता के समय तक रुद्र, विष्णु, अच्युत् तथा नारायण आदि देवताओं और ब्रह्म या परब्रह्म में परस्पर किसी प्रकार के मौलिक अन्तर को न मानने के आधार का निर्माण हो चुका था।[34] इससे पूर्व अर्थात् उपनिषत्काल तक धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में जो कुछ सोचा और स्वीकार किया गया उसे निम्नलिखित रीति से समझा जा सकता है :—

(क) यज्ञयागादि द्वारा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति।

(ख) ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त सांसारिक विषयों के प्रति पूर्ण वैराग्य का भाव तथा कर्मों के परित्याग का सिद्धान्त।

(ग) ब्रह्मज्ञान हो जाने के उपरान्त भी आजीवन निष्काम बुद्धि द्वारा कर्म करते रहने के प्रति आस्था।

(घ) ब्रह्मवेत्ता तथा ब्रह्म में परस्पर अभेद के सिद्धांत की मान्यता।

(ङ) और रुद्र, विष्णु, अच्युत् आदि देवताओं तथा परब्रह्म में अभेद या इन्हें एक

ही परमतत्व की अलग-अलग विभूतियाँ मानना ।

उपर्युक्त विचारों को दृष्टि में रखते हुए उपनिषत्कालीन साहित्य को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

प्रथमवर्ग उन उपनिषदों का है, जिनमे केवल ब्रह्म के चिन्तन, अनुभवों एवं साक्षात्कार का ही प्रधान्य है । वृहदारण्यक आदि प्राचीनतम उपनिषदें इसी श्रेणी की हैं ।

दूसरी कोटि में उन उपनिषदों की गणना की जाती है, जिनमें योग की साधना द्वारा मुक्ति पाने के बारे में विवेचन हुआ है । इन्हें यौगिकसिद्धान्त प्रधान उपनिषदें कहा जा सकता है ।

तीसरी कोटि की उपनिषदें भक्तितत्त्वप्रधान हैं । 'राम तापिनी' यथा 'नृसिंह तापिनी, आदि तीसरी कोटि की उपनिषदें एक दूसरे की अपेक्षा परवर्ती हैं । यह वर्गीकरण यद्यपि वैज्ञानिक तो नहीं है परन्तु इस प्रकार के बँटवारे से उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय के महत्त्व और उनके विषयविवेचन का भलीभाँति ज्ञान सम्भव हो जाता है ।

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता कि भक्तिप्रधान श्रेणी की उपनिषदों में भी अन्तिम साध्य ब्रह्म का साक्षात्कार ही है, परन्तु साधन के रूप में भक्तिसाधना को भी स्वीकार कर लिया गया है । 'रामपूर्वतापिनी,'[35] मैत्री[36] एवं अमृतबिन्दु[37] आदि उपनिषदों में रुद्र, विष्णु अच्युत्, तथा नारायण आदि देवताओं की भक्ति का विधान है तथा उन्हें परमात्मा अथवा परब्रह्म का रूप माना गया है । इस प्रकार धीरे-धीरे भागवतभक्ति के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण होता रहा है । अन्ततोगत्वा गीता-प्रतिपादित भागवतभक्ति में मानवरूपधारी अर्थात् व्यक्ति के प्रतीक की उपासना के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है । गीता में अवतारवाद के सिद्धांत को मान्यता ही नहीं मिली अपितु धीरे-धीरे यह सिद्धान्त सर्वजनप्रिय सिद्धांत बन गया । भागवतधर्म ने गीता के उपदेशों के पहले ही अपने लिए भक्तिमार्ग का निर्माण कर लिया था । परन्तु उस समय प्रचलित ज्ञानकाण्ड की प्रधानता के कारण वह वहीं का वहीं रुक गया । आरम्भ में ओंकार की उपासना का सिद्धांत प्रचलित तो हुआ परन्तु बाद में विष्णु तथा रुद्र आदि देवताओं की उपासना का ही महत्त्व बढ़ता गया । कृष्ण के नेतृत्व में भक्ति की उपासना क्रान्तिकारी विचारधारा का रूप धारण कर धार्मिक समाज में सर्वप्रिय स्थान प्राप्त करने में सफल हुई । व्यक्ति-प्रतीक की उपासना के लिए पृष्ठभूमि पहले से ही निर्मित हो चुकी थी अतः बाद में कृष्ण बिना किसी प्रकार के विरोध के विष्णु के अवतार मान लिए गए । यह सभी कुछ इस रीति से हुआ कि अवतारवाद के प्रचार में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं हुई ।

गीता-प्रतिपादित भक्ति की विशेषताएं

गीता में यद्यपि ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान को ही परमसत्य और अन्तिमसाध्य माना गया है,[38] परन्तु सामान्य जनसमाज के लिए उसे अति कठिनमार्ग बतला कर[39] भक्ति की शरण में जाने का उपदेश भी साथ-साथ दिया है ।[40] गीता में ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रद्धा के भाव को आवश्यक बतलाया है । क्योंकि श्रद्धा और प्रेम मानव की नैसर्गिक वृत्तियां हैं । गीता के दार्शनिक

सिद्धान्त में इस बात पर दृढ़ विश्वास किया जाता है कि बुद्धिगम्य ज्ञान, प्रेम और श्रद्धा आदि मनोवृत्तियों को ईश्वरोन्मुख बनाए बिना ज्ञान कोरा ज्ञान है। गीताके इसी सिद्धान्त का अनुसरण अद्वैतवादी सन्तों की प्रेमाभक्ति में चरितार्थ हुआ मिलता है। तर्क-शास्त्र की सहायता से प्राप्त ज्ञान ने श्रद्धा और प्रेमतत्त्व के मिश्रण से धीरे-धीरे प्रबलशक्ति का रूप धारण कर लिया। इसी लिए गीता में श्रद्धावान् कर्मयोगी श्रेष्ठ बतलाया गया है।[41] जीव का परमध्येय है ब्राह्मीस्थिति की प्राप्ति। बौद्धिक चिन्तन द्वारा यह जान लेने पर भी कि ब्रह्म निर्गुण है, जीव को कोई विशेष लाभ नहीं है। ज्ञान को निष्कामकर्म में परिणत करने से ही उसकी सच्ची सार्थकता है। गीता में कहा है कि परमेश्वर के प्रेम की राह पर चलकर, उसका चिंतन करते हुए, जीव का ब्रह्म में तदाकार हो जाना ही उपासना अथवा भक्ति है। 'शांडिल्य सूत्र' की भक्ति की परिभाषा[42] गीता-प्रतिपादित भक्ति की भावना का मात्र अनुवाद है। भागवतकार ने निष्काम तथा 'निर्हेतुक प्रेम' के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भक्ति का लक्षण "अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे" किया है।[43] गीता में निर्मल मन से परमेश्वर की भक्ति करने वाले को भक्तों में श्रेष्ठभक्त माना गया है।[44] यही भक्ति भागवत में नौ और 'नारद भक्ति सूत्र' में ग्यारह प्रकार से वर्णित है।[45]

भगवद्गीता में यह समझाया गया है बुद्धि का कार्य धर्म-अधर्म, कार्य और अकार्य का निर्णय करना है। उसके बाद का सम्पूर्ण व्यवहार मन द्वारा सम्पादित होता है। इस लिए इन्द्रियातीत तथा 'निर्गुणब्रह्म' की उपासना नहीं की जा सकती। ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए मन में 'निर्गुणब्रह्म' के साथ एक रूप होने की योग्यता आवश्यक है। उपनिषदों में अव्यक्त या निराकार ब्रह्म को उपासना के लिए गुणों से युक्त जैसा वर्णित किया गया है।[46] गीता का यह सिद्धान्त है कि परमेश्वर से प्रेम करने और उसी में अपनी वृत्तियों को लीन करने के लिए उसके सगुणरूप की कल्पना करनी पड़ती है। मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार किसी मूर्त पदार्थ के देखे बिना मनुष्य के मनमें उसकी अमूर्त कल्पना हो ही नहीं सकती। अमूर्त की गति को पाना इसी कारण दुरूह एवं कठिन माना गया है।[47] गीता में अव्यक्त की उपासना को अमान्य न ठहराते हुए भी व्यक्त को अपनाने का परामर्श दिया है; क्योंकि किसी व्यक्त स्वरूप पर मन की एकाग्रता शीघ्र एवं सहज भाव से नहीं हो सकती। जीव का साध्य एक ही है भेद केवल उस द्वारा अपनाए गए मार्ग का है।

गीता में ब्रह्म की सर्वव्यापकता और अवतारवाद दोनों की स्वीकृति है। तदनुसार परमसत्ता अपनी इच्छा से अथवा अपनी माया से 'ईश्वर' का रूप धारण करती है। वेदान्तसूत्रों में भी 'ईश्वर' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।[48] उपनिषदों में 'मायिनं तु महेश्वरं' के रूप में महेश्वर की माया की चर्चा एवं[49] सगुण ईश्वर की महिमा के उल्लेख हैं।[50] उपनिषदों में भी देवता (ईश्वर) के ज्ञान द्वारा जीव की मुक्ति की चर्चा पाई जाती है।[51] भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में अपने व्यक्तिस्वरूप अर्थात् अवतार धारण करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[52] तदनुसार विश्व की प्रत्येक विभूति भगवान् का अवतार है। सम्भवतः यहाँ से वैष्णवसंहिताओं को व्यूह-

सिद्धान्त की प्रेरणा मिली है।[53] महाभारत के शांतिपर्व में भगवान् से नारद ने कहा है कि मेरे जिस स्वरूप को तुम देख रहे हो, वही सत्य नहीं है।[54] इसी कथन को गीता में दोबारा दोहराया गया है और परमतत्त्व के अव्यक्तस्वरूप को ही सत्य माना है।[55] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का प्रतीक केवल उपासना के लिए ही सत्य है या उपासना के लिए है। 'वेदान्तसूत्रों' में परमेश्वर के शुद्धस्वरूप को प्रतीक के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।[56] गीता में प्रतीक की पूजा का उल्लेख करते हुए यह बतलाया गया है कि भक्त की जैसी श्रद्धा हो वह वैसा ही हो जाता है [57] भगवान् कृष्ण, अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा अथवा यजन करने वालों को अपना भक्त मानते हैं।[58] प्रस्तुत सिद्धान्त में पैगम्बर या ईश्वर को मनुष्य के रूप में परम-सत्य मानने का खण्डन है। गीता के सिद्धान्त के अनुसार भक्ति का फल प्रतीक में न हो कर, प्रतीक के प्रति भक्त की आन्तरिक भावना में है। गीताकार का विश्वास है सारी नामरूपात्मक सृष्टि वासुदेवात्मक है तथा इस स्थिति का ज्ञान मुक्ति का हेतु है।[59] अपने आपको उपास्य के प्रति समर्पण कर देने का विचार गीता का विशेष सिद्धान्त है।[60] चतुर्व्यूह सिद्धान्त की चर्चा गीता में कहीं नहीं मिलती। उपनिषदों तथा वेदान्तसूत्रों में जीव को सनातन परमेश्वर ही का सनातन अंश माना गया है।[61] संक्षेप में यही गीता की भक्ति है, जिसका विस्तार परवर्ती भागतसम्प्रदाय में हुआ है। बौद्धधर्म के प्रभाव को कम करने के लिए वैष्णव आगमों में तान्त्रिकपद्धति की स्वीकृति बाद की घटना है।

बौद्धधर्म में भक्ति

बौद्धधर्म की विचारधारा ब्राह्मण-धर्म के कर्मकाण्ड तथा उपनिषदों के ज्ञान-काण्ड से स्वतन्त्र, तत्वज्ञान के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले लोकायत साम्प्रदाय से सम्बन्धित प्रतीत होती है। बौद्धधर्म का अविर्भाव ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के बाद की घटना है। गीता के स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ तथा भक्तयोगी के लक्षणों तथा निर्वाण के अधिकारी अर्हतों के लक्षणों की आश्चर्यपूर्ण समानता को देखते हुए प्रतीत होता है कि बौद्धधर्म का प्रचार बाद में हुआ होगा तथा उसमें पूर्ववर्ती अनुकूल विचारधाराओं को अन्तर्भुक्त कर लिया गया होगा।

बौद्धधर्म के प्रचार से पूर्व वैदिकधर्म सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त किए हुए था। उपनिषदों तथा धर्मसूत्रों की रचनाएँ तब तक हो चुकी थीं। बौद्धधर्म के ग्रन्थों में अनेक ऐसे प्रकरण मिलते हैं, जिन में बौद्धविचारधारा से प्रभावित होकर वैदिक मतानुयायिओं ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था।[62] 'सुत्त निपात्त' में कर्म-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए बतलाया गया है कि जीव के आवागमन के कारण उसके कर्म हैं। गाड़ी जिस प्रकार रथवर्ती कील से नियंत्रित रहती है, उसी प्रकार प्राणिमात्र कर्म से बन्धा हुआ है।[63] बौद्धधर्म की भाँति उपनिषदों में भी कर्म-सृष्टि के सम्पूर्ण व्यवहारों को तृष्णामूलक तथा दुःखमय माना गया है। सारी दृश्य-सृष्टि को प्रतीत्यसमुत्पाद मानकर संसार-प्रवाह का सिद्धान्त माना जाता है। बौद्धधर्म में नित्य, व्यापक एवं चैतन्यस्वरूप परमात्मा नाम की किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया तथा ब्रह्म के अस्तित्व

के बारे में मौन से काम लिया गया है।[64] बौद्धधर्म के सिद्धान्तों और उपनिषदों के 'दर्शन' में यही भेद है। उपनिषदों में यज्ञयागादि कर्मों द्वारा आवागमन से मुक्ति की उपलब्धि को असम्भव बतलाया गया है और उन्हें हिंसात्मक कर्मों की कोटि में रखते हुए त्याज्य घोषित कर दिया है। बुद्ध ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए चार आर्यसत्यों के सिद्धान्त की स्थापना की है; यही बौद्धधर्म है।

'वृहदारण्यकोपनिषद्' में याज्ञवल्क्य ने संसार का पूर्ण परित्याग कर, मन को निर्विषय तथा निष्काम बनाने में ही जीव का परमार्थ माना है।[65] बौद्धधर्म में स्वीकृत संन्यासमार्ग अथवा भिक्षुजीवन उपनिषदों की विचारधारा का ही अनुसरण है। जो लोग भिक्षु नहीं हैं, उन के लिए बुद्ध तथा धर्म की शरण में जाने का उपदेश है।[66] बौद्धधर्म में उपासकों (गृहस्थों) के लिए अहिंसा, सत्य अस्तेय, सर्वभूतानुकम्पा, आत्मौपम्यदृष्टि, मन की पवित्रता, सत्पात्रों को दान देना आदि नैतिक धर्मों का आचरण करने पर बल दिया गया है। 'ब्राह्मणों' तथा 'धर्मसूत्रों' में जिन पंचमहायज्ञों आदि का विधान है, उन्हीं को बौद्धधर्म में अपने ढंग से स्वीकार कर लिया गया है।[67] उपनिषदों में गृहस्थाश्रम में रह कर मोक्ष की प्राप्ति को कठिन माना है।[68] बुद्ध की दृष्टि में भी पूर्णनिर्वाण के लिए भिक्षुधर्म को ही श्रेयस्कर कहा है। उपासकों के लिए 'स्वयं प्रकाश', नामक देवलोक की कल्पना की गई है, जो स्वर्गलोक के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतीत होता है।[69]

धीरे-धीरे बौद्धधर्म का प्रचार व्यापक होता गया। मानव-हृदय-भक्ति के लिए लालायित हुआ और बौद्धधर्म के लिए चिरकाल तक निरात्मवादी तथा निवृत्तिप्रधान दृष्टिकोण को अपना कर चलना कठिन हो गया। इसीलिए परवर्ती बौद्ध आचार्यों को आत्म-चैतन्य के सिद्धान्त की व्याख्या दूसरे ढंग से करनी पड़ी है। उन्होंने आत्मा को चेतनसत्ता तो मान लिया परन्तु तर्कों तथा युक्तियों द्वारा उसकी सिद्धि के प्रयत्नों में भटकना व्यर्थ समझा गया है। 'अचिन्त्य आत्मज्ञान' के शुष्कवाद में भटकना उन्हें पसन्द नहीं था। इसीलिए 'सेल्लसुत्त' तथा 'थेरगथा' के उपदेशों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि बुद्ध अपने आपको 'ब्रह्मभूत' कहा करते थे।[70] बुद्ध के जीवन-काल में भक्ति द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति के मार्ग का सिद्धान्त बल न पकड़ सका, क्योंकि उन्होंने आत्मा या ब्रह्म के अस्तित्व की चर्चा को कभी भी प्रोत्साहन नहीं दिया है। बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त महायानशाखा के आचार्यों ने बुद्ध को अविनाशी मान कर उसे सकलसृष्टि का पिता माना और यह कहा जाने लगा कि प्राणिमात्र उसकी संतान हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी हुआ है कि परमपिता 'बुद्ध' के रूप में 'धर्मकृत्य' की स्थापना के लिए अवतार धारण करते हैं। देवाधिदेव बुद्ध की भक्ति, बौद्ध ग्रन्थों का विधिवत् पाठ, तथा बुद्ध के गुणों का कीर्तन आदि करने से यह जीव (मानव प्राणी) सद्गति का अधिकारी बन सकता है।[71] भक्ति का यह सिद्धान्त परवर्ती बौद्ध-आचार्यों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए गीता की भक्तिभावना तथा वैदिक प्रार्थनाओं की तरह भक्ति-साधना को स्वीकार कर लिया। कठोर नियम ढीले कर दिए गए तथा साधकों के स्वभाव और ज्ञान को दृष्टि में रखकर उपासना की साधना को

स्वीकार किया गया। साधारण जनता के लिए बुद्ध की शरण को ही पर्याप्त माना। बुद्ध की शरण निर्वाण का सरल उपाय बन गया।[72] इस प्रकार गृहस्थ रहते हुए भी निर्वाण की प्राप्ति सम्भव हो गई।[73]

प्रस्तुत विवेचन से यह भी पता चलता है कि बौद्धधर्म में (महायान शखा) भक्ति के सिद्धांत को मान लिया गया है। संहिताकाल तक 'परब्रह्म' को सैद्धान्तिक मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी; तब तक केवल इन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों को ही देवत्वरूप मिल पाया था। 'ब्राह्मणग्रन्थों' के निर्माण और प्रचारकाल तक बाह्यविधि-विधानों की प्रबलता रही परन्तु जब अध्यात्म उपनिषदों में उन्हें निर्बल नौकाएँ घोषित कर दिया, तब 'परात्परब्रह्म' के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का महत्त्व बढ़ गया। उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान के लिए अध्यात्म-विद्या की साधना पर बल दिया गया है। पीछे बतलाया जा चुका है कि वह युग भक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं था परन्तु तब तक उपासनामार्ग के माध्यम से भक्तिभावना ने अपने लिए स्थान बनाना प्रारम्भ कर दिया था। उपनिषदों में ओंकार को 'परब्रह्म' का प्रतीक मानकर उपासना के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। महाभारत का 'नारायणीयोपाख्यान इस बात का प्रमाण है कि परवर्ती उपनिषदों के रचनाकाल तक भक्तिमार्ग को अपने प्रचार के लिए उपयुक्त वातावरण न मिल सका था। कर्मकाण्ड से हटकर चिन्तकसमाज सीधा ज्ञानकाण्ड की ओर अग्रसर हुआ है और भक्ति के सिद्धान्त का पुनरुद्धार यादव जाति की महान् विभूति वासुदेव कृष्ण ने किया है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को परस्पर विरोधी न मानकर सहायक बतलाया है। सिद्धान्त का आश्रय प्राप्त कर भक्तिमार्ग का प्रचार व्यापक क्षेत्र को अपने भीतर समेटने में सफल तो हो गया परन्तु बौद्धकाल में भक्तिमार्ग पुनः अवरुद्ध हो गया।

परवर्ती बौद्धसाहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद उस के प्रवचनों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की गई हैं। महायानियों में बौद्धधर्म के प्रचार को व्यापक रूप प्रदान करने के प्रयत्न हुए। इस तरह नवीन सिद्धान्तों का निर्माण कर महायानियों द्वारा भक्तिसिद्धान्त का प्रचार किया गया। इस से यह स्पष्ट है कि उस समय के समाज में भक्तिभावना अवश्य सर्वप्रिय रही होगी। समाज में प्रचलित वासुदेव की भक्ति की साधना के महत्त्व को कम करने के लिए बौद्धों ने बुद्ध की भक्ति के प्रचार के लिए सतर्क प्रयत्न किए होंगे। यदि उस समय के समाज में भक्ति के मार्ग के प्रति अधिक आकर्षण न रहा होता, तब यह सम्भव नहीं था कि बौद्धधर्म में भक्ति के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त होती। इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्वता प्रधान कारण न भी हो फिर भी कारणों में एक कारण अवश्य है।

बौद्धधर्म के व्यापक प्रभाव के कारण भागवत धर्म के प्रचार का मार्ग अवरुद्ध हो गया और गुप्तराजाओं के उत्थानकाल तक वह उपेक्षित ही रहा है।[74] गुप्तवंशी राजाओं के शासनकाल में उसे एक बार फिर से प्रचार का अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ।

भागवतों ने उसे वेदधर्मानुकूल मत सिद्ध करने के प्रयत्न किए।[75] भारतीय धर्म साधना में एक समय वह भी आया जब 'निगम' के स्थान पर आगम विचारधारा को अधिक महत्त्व मिलने लगा। प्रस्तुत विचारधारा को सर्वप्रिय बनाने के लिए उसे कहीं

वेदों के अनुकूल तथा कहीं पर स्वतन्त्र मार्ग बतलाया गया है। पांचरात्रभक्ति प्रत्येक दृष्टि से महाभारत के शांतिपर्व' तथा नारायणीयोपाख्यान में वर्णित विचारधारा के अनुकूल है। उसमें कर्मकाण्ड को गौण रूप दिया गया है और भक्ति की भावना से रहित केवल तपस्या को कृच्छ्रसाधना बतलाया गया है। भेदाभेदवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण अनन्यासक्ति के सिद्धान्त को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ। 'नमनभाव' को अपनाकर 'अहंभाव' को सर्वथा त्याग देने पर बल दिया गया है। भगवान् द्वारा भक्त की रक्षा के सिद्धान्त के प्रति विश्वास को भी प्रश्रय प्राप्त हुआ है। पंचरात्र की भक्ति के सिद्धांतानुसार, भक्त अपने आप एवं अपने सर्वस्व को भगवत्कृपा ही मानकर आचरण करता है और अपने मन में प्रभु के प्रति सदैव दीनभाव बनाए रखता है। वह अपने आपको सदैव अपराधी और पापी मानता है तथा भगवान् को दयालु और क्षमाशील मान, उससे अपनी रक्षा की याचना करता है[76]। 'प्रपत्तिभाव' को अपनाकर तीर्थ आदि धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान आदि साधनों के कारण मन में जन्म ले सकने वाली अहंभावना को निकट भी नहीं आने देता। ऐसी अवस्था में उसकी सम्पूर्ण चिन्ताएँ भगवान् की चिंताएँ बन जाती हैं। वह प्रभु के चरणों में बैठकर प्रार्थना कीर्तन और नामस्मरण को अपने जीवन का साध्य बना लेता है। निर्गुणमार्गीसन्तों की भक्तिसाधना पर भक्ति का सैद्धान्तिक निरूपण करने वाली संहिताओं का प्रभाव है। यह प्रभाव केवल विचार-धारा का है अत: उसे परम्परागत प्रभाव ही मानना चाहिए। निर्गुणभक्ति में सन्तों ने किन-किन विचारों को अपनाया तथा किन-किन का परित्याग कर दिया, इसे अच्छी तरह समझने के लिए संहिताओं के दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय आवश्यक है। दास-गुप्ता ने 'जयाख्यसंहिता' तथा अहिर्बुध्न्य संहिता' को भागवतधर्म की प्रसिद्ध संहिताएँ माना है। पंचरात्रसंहिता प्रतिपादित भक्ति सम्बन्धी विचारों का उल्लेख आगे किया गया है तथा इससे पूर्व भागवतपुराण की भक्ति के स्वरूप की चर्चा हुई है।

भागवतपुराण की भक्ति का स्वरूप

भागवतपुराण में कर्मकाण्ड एवं योगसाधना को कष्टसाध्य बतलाकर प्रभु के नाम-स्मरण तथा भगवत्-शरण द्वारा प्रभुप्राप्ति की साधना के सिद्धान्त को सुकर एवं श्रेयस्कर माना जाता है।[77] भागवतवर्णित अध्यात्मसिद्धान्त अद्वैत, तथा साधनामार्ग, भक्तिपरक है एवं अवतारवाद के प्रति दृढ़ आस्था है। यही भागवतधर्म के सिद्धान्त की मौलिकता है। तदनुसार नारायण का परात्पर स्वरूप निर्गुण है। यह माना जाता है कि नारायण ने स्वयं भागवतधर्म की व्याख्या की है और अपने मुख से यह कहा है कि सृष्टि से पूर्व केवल उन्हीं की अद्वैतसत्ता थी। उस समय शेष सभी कुछ क्रियाशून्य था। सत् (कार्यात्मक स्थूलभाव) एवं असत् (कारणात्मक सूक्ष्मभाव) भी नहीं था। सत एवं असत् दोनों ही प्रधान (अव्यक्त) अवस्था में थे। नारायण स्वयं सृष्टि का प्रपंच हैं। सृष्टि की रचना से पूर्व सम्पूर्ण पदार्थ उन्हीं में लीन थे। इसी तरह प्रलय के समय सम्पूर्ण पदार्थ दोबारा उन्हीं में समा जाते हैं। केवल उन्हीं की सत्ता बनी रहती है।[78] ब्रह्म, भगवान्, वासुदेव आदि उसी अद्वय-परात्परसत्ता के विभिन्न अभिधान हैं।[79] अत: जीव के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्ति है और यही उपाय जीव को परमार्थ की उपलब्धि करवा सकता है।

भागवतधर्म का मर्म है भक्ति और वह भी अनन्य एवं अनपायिनी । तदनुसार अपने सम्पूर्ण कर्मों को भगवदर्पण करना ही भक्ति है ! नामस्मरण एवं संकीर्तन आदि उपाय भक्ति के साधन हैं । भक्ति प्रधान फलों में भगवत्प्रेम, विषयों के प्रति निरासक्ति, भगवत्स्वरूप का बोध आदि की गणना की जाती है । सारी सृष्टि में अपने आप को और सम्पूर्णविश्व को अपने आप में अनुभव करना ही श्रेष्ठ भक्ति है । अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार आचरण करने वाला भक्त मध्यमकोटि का एवं अर्चाविग्रह (प्रतिमा) का पूजक भक्त सामान्यकोटि का भक्त कहलाता है ।[80] भागवतकार का यह विश्वास है कि भगवान् प्राणिमात्र के कल्याण के लिए संसार में अवतारी विग्रह धारण करता है ।[81]

भागवतपुराण और अवतारवाद

भागवतपुराण में नारायण को सारे ब्राह्मण का सृष्टा माना गया है । वही अपने अंश (जीव) के रूप में इस ब्रह्माण्डपुर में समाया हुआ है । नारायण जीव के रूप में 'पुरुष' हैं ।[82] उन्होंने रजोगुण द्वारा ब्रह्मा, तमोगुण द्वारा रुद्र, एवं सत्वांश के रूप में विष्णुरूप धारण किया हुआ है । अपने उपर्युक्त तीनों रूपों में वह विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार करता है ।[83] भक्तों के हितों की रक्षा के लिए वही अवतार धारण करता है ।[84] भगवान् कृष्ण नारायण के अवतार हैं । यही कारण है कि भागवतकार ने स्थान-स्थान पर नन्द को कृष्ण के प्रति पुत्रबुद्धि के मोह से दूर रहने की चर्चा की है तथा इसी भाव को बनाए रखने का उपदेश दिया है ।[85] बलदेव अंशावतार माने गए हैं ।[86] भागवतपुराण में योगसाधना भी मान्य है परन्तु निर्गुण के स्थान पर नारायण के अवतारी अर्थात् सगुणरूप का चिन्तन करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन ही मुख्य वर्ण्य विषय है ।[87]

भागवतपुराण प्रतिपादित भक्ति की विशेषताएँ

भागवतपुराण में बार बार यही कहा गया है कि जीव को सम्पूर्ण सांसारिक विषयों के प्रति निरासक्त एवं निरपेक्ष बने रह कर प्रभु-भक्ति ही में चित्त को समाहित रखना चाहिए ।[88] भगवान् ने स्वयं कहा है कि जिस किसी ने अपने चित्त को मुझी में समाहित किया है, वही मेरा भक्त है ।[89] वासुदेव का सच्चा एवं अनन्यभक्त सिद्धियों की प्राप्ति के प्रलोभन का परित्याग कर अपनी समूची मानसिक वृत्तियों एवं इन्द्रियों को प्रभु-उन्मुख बना लेता है ।[90] भक्त जब अपने आप को प्रभु-उन्मुख बना लेता है तब स्वयं भगवान् भी भक्त की ओर आकर्षित होने लगते हैं । भगवान् को अपने भक्त ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी एवं बलभद्र आदि से भी अधिक प्रिय है ।[91] भगवद् भक्ति में अपार सामर्थ्य है । वह भक्तों की पापराशि इस प्रकार भस्म कर देती है, जिस प्रकार अग्नि सूखे ईंधन को ।[92] सत्य एवं दया आदि महान् गुणों से युक्त होने पर भी जीव भक्ति भावना के अभाव में व्यर्थ है । ऐसी स्थिति में उस द्वारा किए गए सभी अन्य धार्मिक अनुष्ठान निष्फल हैं ।[93] भक्ति की तुलना में सांख्य—तत्त्व विचार-धर्म, स्वाध्याय, तपस्या एवं दान आदि सभी साधन व्यर्थ हैं ।[94] भक्ति के क्षेत्र में भागवतभक्ति किसी भाँति जाति आदि के बन्धनों एवं सीमाओं

को स्वीकार नहीं करती।[95] तपःपूतविद्या आदि अन्य साधन भी भक्तिभाव से वंचित जीव की किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते। भगवान् का अनन्य भाव से जो चिन्तन करता है वह भगवान् में समा जाता है। भगवान् की यही प्रतिज्ञा है।[96]

पांचरात्रसंहिता-प्रतिपादित भक्तिसम्बन्धी विचार

पांचरात्रसंहिताओं में तांत्रिकपरम्परा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है तथा गुरु एवं शिष्य के सम्बन्धों के विस्तृत विवरण भी मिलते हैं। जयाख्यसंहिता में शाक्त तथा अन्य तांत्रिक सम्प्रदायों की चर्याविधियों के अनुरूप साधना-पद्धतियों की स्वीकृति इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि उस समय प्रचलित वैष्णवधर्म की पूजाविधियाँ तांत्रिकता से प्रभावित हो चुकी थीं। मण्डल निर्माण के उल्लेख भी जयाख्यसंहिता में हुए हैं जिन की चर्चा सर्वप्रथम "मन्जुश्रीमूलकल्प" में प्राप्त होती है। 'मन्जुश्री मूलकल्प' दूसरी शताब्दी की रचना है। अतः संहिताओं का रचनाकाल तीसरी शताब्दी के बाद मानना असंगत नहीं है। बौद्धतांत्रिक ग्रन्थों 'गुह्य-समाज' और 'साधन माला' में सिद्धियों के चमत्कारों के बारे में चर्चा की गई है। वैष्णव संप्रदाय के आगम साहित्य पर योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक असंग द्वारा प्रवारित तांत्रिक प्रभावों को भी क्रियाशील माना जाता है।[97]

ब्रह्मस्वरूप की चर्चा

'जयाख्यसंहिता' में ब्रह्म को त्रिगुणसृष्टि —शुद्ध, प्राकृतिक, ब्रह्मा का कर्ता माना गया है।[98] संहिताकार के सिद्धान्तानुसार जीव का ब्रह्म से अभेद एवं पुनर्जन्म के प्रवाह का रुक जाना मोक्ष बतलाया गया है।[99] मुक्ति की प्राप्ति के लिए अपनाए गए साधनों में तपस्या की साधना को भी स्वीकार किया गया है।[100] योग एवं कर्मकाण्ड दोनों को ही समान रूपेण ब्रह्मभाव की उपलब्धि में सहायक माना है।[101] यह भी कहा गया है कि संहिता-प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार जीव (अनादि वासना से युक्त) की ब्रह्म समापत्ति ही ब्रह्म की प्राप्ति है।[102] यह विश्वास भी किया जाता है कि जीव दूसरा जन्म लेते ही इच्छाओं को सूक्ष्मरूप में धारण किए रहता है। संहिताकार ने 'अपुनारम्भता' शब्द का प्रयोग जीव की मुक्ति के लिए किया है। आत्मा को चेतन एवं रागादि गुणों से युक्त माना है। त्रिगुणात्मक सृष्टि के कारण आवृत्त कर लेने वाले अज्ञान को जीव के मलों का हेतु कहा है। अज्ञान के कारण ही जीव अपने आप को जड़तत्त्वों जैसा ही समझने लगता है। जीव द्वारा मुक्ति की प्राप्ति के लिए पूजा एवं अर्चा आदि आवश्यक विधान माने गए हैं। परब्रह्म के स्वरूप की जानकारी के लिए उपासना और उपासना के लिए साकार रूप की स्वीकृति संहिता का मुख्य सिद्धान्त है। यही कारण है कि संहिता द्वारा प्रतिपादित भक्ति में प्रतिमा-पूजन और मन्त्रों के अनुष्ठान को मान्यता प्राप्त है। जीव को चेतन एवं रागादि गुणों से युक्त माना गया है। इस त्रिगुणात्मक सृष्टि से उत्पन्न होने वाला अज्ञान ही जीव के मलों (आवरणों) का कारण है। जीव की मुक्ति के लिए भक्ति तथा भक्ति के साधनों (पूजा, अर्चा आदि) को आवश्यक बतलाया है। संहिता-प्रतिपादित सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि तदनुसार साकार रूप की स्वीकृति एवं उसकी उपासना

के बिना जीव के लिए मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं हैं। प्रतिमा के पूजन एवं मंत्रों आदि के अनुष्ठान की साधना का बार-बार उपदेश दिया गया है।[103] मंत्र ब्रह्म के अंश (अविभाज्य अंग) माने हैं।[104] उन्हें ब्रह्म से उत्पन्न माना गया हैं और उन द्वारा भगवान् की पूजा का आदेश है।

संहिताकार का मन्त्रों के बारे में यह विश्वास है कि मंत्र एक बार आविर्भूत होकर दोबारा-परिवर्तन को प्राप्त नहीं होते। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में व्यापकरूप में ब्रह्म से अक्षरों के प्रादुर्भूत होने की प्रक्रिया के उल्लेख हैं। अक्षरों को ही महत् अंहकार एवं दूसरे तत्वों के क्रमिक विकास के सिद्धांत का प्रतिपादन है।

पांचरात्र संहिताओं (विशेष कर 'पंचरात्र' 'अहिर्बुध्न्य') में यह बतलाया है कि ब्रह्म अपनी शक्ति से अग्नि और सोम का रूप धारण करता है। उन्हें ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के रूप में साकार माना है।[106] इन्हीं अक्षररूप शक्तियों को 'जयाख्यसंहिता' में विश्व का स्रष्टा और संहर्ता कहा है। तदनुसार ये अक्षर ही महत् से लकर भूतत्त्व तक की सृष्टि के कारण हैं। पुमान्रूप में अग्नि और सोम को परमेश्वर कहा है तथा यह बतलाया है कि वे ही धरती में प्रवेश कर सृष्टि की रचना के कारण बनते हैं।[106] इस स्थिति में उन्हें 'त्रैधकेश्वर' कहा जाता है।[107] प्रलय के समय सम्पूर्ण सृष्टि प्रत्यावर्तन क्रम से लयावस्था को प्राप्त होती है। तब ब्रह्म का सत्, चित् एवं आनन्दरूप ही शेष रह जाता है। अतः जयाख्यसंहिता में प्रतिपादित सृष्टि की रचना और उसके लय के सिद्धान्त को अध्यासवाद अथवा विवर्तवाद नहीं माना जा सकता। उसे परिणामवाद मानना ही संगत लगता है।

नारदभक्ति सूत्र–पतिपादित भक्ति का स्वरूप

'नारदभक्ति सूत्र' में ईश्वर के प्रति परानुरक्ति को भक्ति का लक्षण माना गया

भक्तिसम्बन्धी विचार

गया है तथा उसे अमृतस्वरूपा बतलाया है। सूत्रकार का यह सिद्धान्त है कि ईश्वर के प्रति परानुरक्तिभाव को जीवन का परमसाध्य बनाकर यह जीव सांसारिक विषयों की आसक्तियों के प्रति पूर्ण विरक्ति का भाव धारण कर लेता है। वह अनन्यानुरक्ति की अवस्था प्राप्त कर समाधिस्थ, स्तब्ध तथा आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[108]

नारदभक्तिसूत्र के कथनानुसार आत्मार्पण का भाव जीव का परमपुरुषार्थ है। इसलिए सच्चा भक्त स्वर्ग की प्राप्ति की कामना भी नहीं करता। वह प्रेम के बदले में प्रभु-प्रेम के सिवा और कुछ नहीं चाहता। ईश्वरेच्छा उसका सर्वस्व है। सारा ब्रह्माण्ड उसे प्रभु का प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है। भगवान् ही उसकी अनन्य शरण बन जाते हैं। अतः अनन्यभाव का अनुरागी भक्त केवल अपने उपास्य से ही सहायता, पथप्रदर्शन एवं शक्ति की याचना करता है। वह भय एवं क्रोध आदि द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है।[109] नारदीभक्ति का परमसार है, सम्पूर्ण कर्मों को भगवदर्पण कर देना। भक्त को प्रभुवियोग क्षणभर के लिए भी सह्य नहीं होता। वह वियोगजन्य विरह की अनुभूति की आग में तब तक जलता रहता है जब तक भगवत्कृपा की वर्षा उसके विरही हृदय को शीतल नहीं बनाती। अपने उपास्य को

विस्मृत कर मन को किन्हीं दूसरे विषयों की ओर लगाना वह उस स्त्री की भाँति अपराध समझता है जो अपने पति को भूलकर किसी परपुरुष का चिन्तन करती है।[110]

नारदीभक्ति, साधना भी है और साध्य भी। इसीलिए भक्ति को कर्म, ज्ञान एवं योग तीनों में उत्तम माना गया है। भक्ति की दो प्रधान सिद्धियाँ हैं। पहली अहंभाव का त्याग है और दूसरी सिद्धि विनम्रभाव की प्राप्ति है।[111] प्रभु-प्रेम को परमात्माज्ञान माना है और अपने सर्वस्व को भगवदर्पण करने को भगवत्प्रेम कहा है। नारदभक्तिसूत्रकार भक्ति को ज्ञान का साधन नहीं मानते। उनकी दृष्टि में साधन, साध्य एवं प्रभुप्रेम का स्वरूप सभी कुछ भक्ति ही है। प्रभु को केवल प्रेम द्वारा पाने पर बल दिया जाता है। प्रेमस्वरूप परमात्मा में प्रेममय होकर उसी रूप में समा जाना भक्ति की सिद्धि बतलाई गई है।[112]

सांसारिक विषयों के प्रति निरासक्ति-भाव धारणकर प्रभुभजन द्वारा भक्ति की प्राप्ति के प्रयत्नों एवं अनुरक्ति पर अधिक बल दिया गया है। भक्ति का प्रधान साधन प्रभुगुण-कीर्तन माना गया है और भगवत्कृपा द्वारा सत्संगति की प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार भक्ति में भगवद्भजन को साधन एवं साध्य दोनों माना गया है। नामस्मरण में भगवान् के निवास का उल्लेख हुआ है[113] तथा शुद्ध प्रेमभाव से नाम का संकीर्तन करने वाले भक्त के हृदय में भगवान् के निवास का सिद्धान्त मान्य हुआ है।[114] असत्संगति, काम, क्रोध, भ्रम, प्रभुविस्मरण आदि को भक्ति के बाधक तत्त्व तथा अज्ञान के हेतु माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है उपर्युक्त द्वन्द्व ही बलवान बनकर बिन्दु से सिन्धु का रूपधारण कर लेते हैं।[115]

भक्ति द्वारा माया से मुक्ति

नारदभक्तिसूत्र प्रतिपादित सिद्धान्त के मुताबिक वही जीव माया से मुक्त है जो इन्द्रिय-विषयों की आसक्तियों से दूर रहता हुआ केवल प्रभु-आसक्ति में ही लीन रहता है। उसे एकान्तवास तथा प्रभुसेवा पसन्द है तथा वह उन कर्मों से भी दूर रहता है जो सांसरिक बन्धनों के हेतु होते हैं। इस तरह वह कर्मासक्ति एवं फलेच्छा दोनों से हमेशा अतीत रहता है। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति भी उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती। भक्ति के क्षेत्र में ऐसा व्यक्ति ही माया से मुक्त है। वह स्वयं मायातीत अवस्था तो प्राप्त करता है और दूसरों की भी माया के बन्धन से मुक्ति दिलाता है।[116] उसका आचरण प्रभु के प्रति अनन्य प्रेमभाव है। नारदीभक्ति के अनुसार प्रेम अनिर्वचनीय तत्त्व है। इसी कारण प्रेम की अनुभूति को अभिव्यक्ति के साधनों की सीमा से अतीत कहा है। अनन्यासक्ति में लीन भक्त सदैव भगवत्प्रेम का ही याचक है और प्रेमावतार भगवान् ही उसकी अनन्य शरण हैं। भगवत्चर्चा तथा तत्सम्बन्धी विचार करना ही उसकी दैनिक क्रियाएँ हैं।[117] भक्ति द्वारा मुक्ति की प्राप्ति की चर्चा करते हुए भक्ति के सात्विक, राजासिक, तामसिक तीन भेद माने गए हैं।

ऊपर भक्ति के जिन सात्विक, राजसिक एवं तामसिक भेदों का उल्लेख हुआ है, उनमें से सात्विक भक्त अपने कर्मों के फलों को भगवदर्पित कर देता है। उसकी पूजाविधि भी निराली है क्योंकि वह विश्वात्मभाव का उपासक है। प्रतिमा पूजा द्वारा

फलप्राप्ति की कामना करने वाले को राजसिक भक्त कहा है। जो भक्त धन एवं प्रसिद्धि आदि की प्राप्ति के लिए भक्ति करता है, उसे तामसिक भक्त कहते हैं।[118] पूर्ण शान्ति एवं चरम आनन्द की अवस्था की प्राप्ति ही नारदीभक्ति का स्वरूप है। 'नारदभक्तिसूत्र' में प्रभु के प्रति अनन्यानुरक्ति,नामस्मरण एवं प्रपत्ति के भाव पर अधिक बल दिया गया है। तदनुसार यही मुक्ति का सर्वोपरि उपाय है। प्रपत्तिभाव की अवस्था का अधिकार प्राप्त हो जाने पर उसे बाह्य अर्थात् सम्पूर्णसांसारिक पीड़ाएँ प्रभु की इच्छा प्रतीत होने लगती हैं। यह दृढ़ विश्वास बना लेना पड़ता है कि परमाभक्ति का आनन्द प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है।[119] सच्चे भक्त के लिए सांसारिक चिन्ताओं का अत्यन्तभाव है। उसके सम्पूर्ण कर्म भगवदर्पित हो जाते हैं और हानि एवं लाभ आदि द्वन्द्व उसे पीड़ित नहीं करते। सांसारिक कर्मों के अनुष्ठान उसकी कर्म-फल त्याग की भावना को कदापि विचलित नहीं कर सकते।[120]

पांचरात्र संहिताएँ और अरतारवाद

व्यूह सिद्धान्त

महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' तथा वेदान्त सूत्रों के 'शांकरभाष्य' में संकर्षण का अर्थ व्यक्तिआत्मा किया गया है। व्यक्तिआत्मा का दूसरा नाम जीव है। प्रद्युम्न मनस् का प्रतीक है और अनिरुद्ध अहंकार का। पांचरात्रसंहिताएँ इस प्रकार के सिद्धान्त को नहीं मानतीं। पांचरात्रमत के अनुसार प्रत्येक व्यूह विष्णु का रूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार विष्णु की एक शक्ति किसी एक व्यूह में और कोई दूसरी शक्ति किसी दूसरे व्यूह में प्रकट होती है। सामान्यतया प्रत्येक व्यूह में विष्णु के सम्पूर्ण व्यक्तित्व—शक्तियों सहित—की समान स्थिति मानी जाती है। यदि हर एक व्यूह में विष्णु की शक्तियाँ मान ली जाएँ तब अनिरुद्धव्यूह को अहंकार का प्रतीक मानना पंचरात्र के सिद्धान्त की दृष्टि में उचित प्रतीत नहीं होता। विश्वक्संहिता के सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन से पता चलता है कि संभवतः व्यूह किसी समय अहंकार आदि के अधिष्ठातृ देवता माने जाते रहे होंगे। इस दृष्टिकोण के अनुसार संकर्षण को सम्पूर्ण आत्माओं का अधिष्ठातृदेवता माना जा सकता है और प्रद्युम्न को मनोमय ज्ञान का अधिष्ठात् देवता कह सकते हैं। अनिरुद्ध, रज तथा तम गुणप्रधान मिश्र देवता है। विश्वक्संहिता में संकर्षण को दिव्य देवाधिदेव माना गया है। वह सृष्टिरचना की इच्छा करता है। सृष्टिरचना की इच्छा की स्थिति में प्रद्युम्न 'ईश्वर' कहलाता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में प्रद्युम्न के रूप में आत्मा और प्रकृति के द्वैतरूप के वर्णन भी मिलते हैं। 'पांचरात्रसंहिता, में प्रद्युम्न की बुद्धि पर पवित्र प्रभाव डालने वाला बतलाया है और आनन्द का उत्स मान लिया गया है। वह ज्ञानेन्द्रियों का नियामक देवता है। संकर्षण जीव को सांसारिक विषयों के हटाकर मुक्ति की ओर प्रेरित करता है। अनिरुद्ध जीवों को उनके कर्मों का फल देता है। प्रस्तुत सिद्धान्त की दृष्टि में सम्पूर्ण फल सकाम कर्मों के परिणाम हैं।

पांचरात्रसंहिताओं में मुख्य व्यूह तीन माने गए हैं। तदनन्तर उन्हीं से तीन उपव्यूहों के प्रादुर्भाव का सिद्धान्त भी स्वीकार कर लिया गया है। ये 'उपव्यूह'

व्यूहान्तर या मर्त्यान्तर कहलाते हैं। इस तरह वासुदेव से केशव, नारायण और माधव प्रादुर्भूत होते हैं और संकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन का प्रादुर्भाव होता है। प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर, अनिरुद्ध से हृषीकेश,, पद्मनाभ और दामोदर यही व्यूहक्रम है। व्यूहों के उपरान्त व्यूहान्तरों का क्रम भी इसी प्रकार बतलाया गया है। बारह व्यूहों को बारह महीनों के देवता भी माना जाता है। इन सब का महत्त्व ध्यान साधना के लिए है। भक्तों द्वारा धारण किए गए ऊर्ध्व त्रिपुण्ड्र को केशव, नारायण और माधव का प्रतीक भी माना जाता है।

अवतार

पांचरात्र संहिताओं में शुद्धसर्ग के बाद अवतार या विभवसृष्टि के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। परमात्मा के व्यूहों और उपव्यूहों की सृष्टि अवतारसृष्टि कहलाती है। संहिताओं में व्यूहों की व्यापक संख्या के उल्लेख हैं, जिनमें मुख्य व्यूह ३९ हैं। प्रलय के रूप में विष्णु को 'एकार्णवशायिन्' बतलाया गया है। वह आदिजल पर लक्ष्मीसहित सुप्तावस्था में लेटे रहते हैं। उन की पद्मनाभि से ब्रह्मा का प्रदुर्भाव होता है। उन्हीं को न्यग्रोधशायिन् के रूप में न्यग्रोध की शाखा पर सोए हुए वर्णित किया जाता है। मार्कण्डेय उनके मुख में विश्व की खोज करते हुए दिखलाए गए हैं। पातालशायिन् की स्थिति में वह वहाँ पर प्रलयाग्नि के रूप में स्थित हैं। लक्ष्मी उन की सेवा करती है। इसी प्रकार वामन तथा त्रिविक्रम अवतारों में से वामन को छोटा बतला कर हृदयस्थ तथा सर्वव्यापक दोनों प्रकार के भावों का संकेत दिया है। मधुसूदन के रूप में वह मधुराक्षस पर विजय प्राप्त करते हुए सूचित किए गए हैं।

'नारदपंचरात्र' में मुख्य तथा गौण (गुणावेश) अवतारों का वर्णन है। विश्वक्-संहिता में मुख्य अवतारों का वर्णन एक अग्निशिखा से निकलती हुई दूसरी अग्निशिखाओं के रूप में मिलता है। गुणावेश अवतार का अर्थ शरीरबद्ध आत्मा है। ये अवतार अपने मूल शरीर के सहित किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए विष्णु की प्रेरणा द्वारा पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। मुख्य अवतारों की भक्ति का लक्ष्य मुक्ति तथा गुणावेशावतारों की भक्ति का उद्देश्य सांसारिक सुखसंपदा की उपलब्धि माना गया है। 'विश्वक् सेन संहिता' में गुणावेशावतारों में ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, व्यास, अर्जुन, परशुराम कुबेर आदि शामिल हैं।

यह भी विश्वास किया जाता है कि विष्णु अपनी शक्तियों के साथ प्रस्तर प्रतिमाओं में अवतरित होते हैं। अन्तर्यामिन् अवतारों में अनिरुद्ध को आत्माओं का अन्तर्नियन्ता माना जाता है। अन्तर्यामिन् रहस्यमयी शक्ति एवं वृत्तिरूपा (Instinct) है। योग-साधना में अन्तर्यामी सिद्धांत का विशेष महत्त्व है। शुद्धसृष्टि परस्वर्ग, परव्योमिन् तथा वैकुण्ठ से सम्बन्धित है जो परमात्मा के $\frac{3}{4}$ भाग का अव्यक्त अंश है। शेष ब्रह्माण्ड अनिरुद्ध का अंश है, जो $\frac{1}{4}$ भाग है। यह कहा गया है कि ब्रह्माण्ड का भेद न करने पर ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। वैकुण्ठ को अपने व्यूहों तथा दूसरे उत्तम कोटि के जीवों का धाम कहा गया हैं। प्रलय के समय ब्रह्माण्ड अन्तर्धान हो जाता है और लक्ष्मी नारायण से एकाकार हो जाती है। कहीं-कहीं ऐसे वर्णन भी मिलते हैं जिसके आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि महाप्रलय के समय वैकुण्ठ तद्रूपता की स्थिति में अर्थात् अपने धामरूप में ही स्थित रहता है। इस महाप्रलय में भी नारायण और लक्ष्मी

अप्रभावित रहते हैं। संहितादर्शन के अनुसार यह विश्व की लीला विभूति है। यह भी माना गया है कि वैकुण्ठ में तत्त्व एवं जीव अलग-अलग रहते हैं। वैकुण्ठ की स्थिति में तत्त्वों में तीन गुणों का मिश्रण रहता है। इस अवस्था का तत्त्व शुद्धतत्त्व है। वैकुण्ठ व्यूहों सहित साकार रूप धारण करता है और प्रादुर्भूत सत्त्व (काल) से अप्रभावित रहता है। शुद्ध तत्त्व (Pure matter) के रूप में परमात्मा अप्राकृतशरीरी होता है। देवता तथा मुक्तपुरुष भी शुद्धतत्त्वशरीरी माने गए हैं। वैकुण्ठ के जड़ पदार्थ भी शुद्धतत्त्व ही होते हैं।

संहिताओं के सिद्धान्त के अनुसार वैकुण्ठ की सर्वप्रधान विभूति भगवान् विष्णु हैं। वह अपने पररूप में शाश्वतस्थिर सत्ता है। परतत्त्व पाँचरूपों में साकार होता है। और उसका पहला रूप विष्णु का है। वैकुण्ठ में परब्रह्म मुक्तपुरुषों तथा देवताओं की प्रसन्नता के लिए साकार रूप धारण कर वैकुण्ठ में निवास करते हैं। विष्णु को नौ मुख्य आभूषणों तथा शस्त्रों को धारण किए हुए बतलाया गया है। विष्णु की कौस्तुभ-मणि को आत्माओं का, वक्षस्थल के बालों को प्रकृति का, गदा को महत् और शंख को सात्विक अहंकार का, धनुष को तामसिक अहंकार तथा तलवार को ज्ञान और म्यान को अज्ञान का, चक्र को मन और माला को तत्त्वों का प्रतीक माना गया है। ये केवल प्रतीक ही नहीं अपितु अपने-अपने तत्त्वों के वास्तविक देवता भी हैं।

वैकुण्ठनिवासी जीवों की भी दो श्रेणियाँ हैं। उन्हें क्रमशः नित्य और सूरि कहते हैं। नित्यजीवों को मल से रहित माना जाता है। सूरि जीव, किसी न किसी ईश्वरीय कार्य में भाग लेने वाले बतलाए गए हैं। वे विष्णु की भांति अपनी इच्छा के अनुसार किसी समय भी अवतार धारण करने की सामर्थ्य रखते हैं। त्रिस्रेणु नामक जीवों की तीसरी श्रेणी भी वैकुण्ठ ही में रहती है, जिन्हें निम्नश्रेणी के जीव कहा गया है। मुक्तात्माएँ अशरीरी होती हैं क्योंकि उनका शरीर कर्मफल-निर्मित नहीं होता। वे अपनी इच्छानुसार शरीर धारण कर संसार में घूम फिर तो सकती हैं परन्तु सांसारिक कार्यों में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं। उनकी भक्ति पृथ्वीलोक में जिस प्रकार की रहती है उसी प्रकार की स्थिति की अधिकारिणी बन कर वे वैकुण्ठ लोक में अपना स्थान प्राप्त करती हैं। उसी विचारधारा ने विशिष्टाद्वैतवाद के निर्माण में सहायता की है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार 'केवल' श्रेणी की आत्माओं की मान्यता है। विश्वास किया जाता है कि वैकुण्ठ में मुक्तात्माएँ परमात्मा से अलग रहती हैं। 'केवल' आत्माएँ वे हैं जिन्होंने परमात्मा के स्थान पर अपने स्वरूप का चिन्तन किया है। पंचरात्र मत में उनकी तुलना उस पत्नी से की गई है जिस का पति मर गया हो और वे ब्रह्मण्ड या वैकुण्ठ के एक कोने में परित्यक्ता सी पड़ी हों। यही कारण है कि अद्वैतवादियों के आत्मचिन्तन के सिद्धान्त और विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्त में अन्तर पाया जाता है। पंचरात्र के सिद्धान्त के मुताबिक 'कूटस्थ पुरुष' में 'कूटस्थ' अथवा पुरुष का भाव एक ही माना है। कूटस्थ आत्माओं की सामूहिक इकाई (मधुमक्षी के छत्ते के समान) है। वही आत्माओं की आत्मा और शुद्ध एवं अशुद्धिमय है।

निर्गुण संतों द्वारा स्वीकृत भक्ति की विशेषताएँ

निर्गुण संतों की भक्ति के प्रेरणास्रोतों का विवेचन करते समय वेदों में भक्ति के प्रारम्भिक स्वरूप की उपलब्धि की ओर संकेत किया जा चुका है। खोज करने पर भक्ति की सम्पुर्ण आसक्तियां वैदिक भक्ति में मिल जाती हैं। वैदिक भक्ति का आधार अवतार का सिद्धांत नहीं है क्योंकि तब तक अवतारवाद की धारणा सैद्धान्तिक रूप में स्वीकृत नहीं हुई थी। फिर भी संतों की भक्ति, वैदिक भक्ति से प्रभावित हो ऐसा नहीं माना जाता। संत, वैदिक-कर्मकाण्ड का खंडन करते हैं। वे उन्हें अपौरुषेय भी नहीं मानते। बल्कि उसे पराविद्या की तुलना में गौण तथा त्याज्य बतलाते हैं। उन्होंने वेदों को निरंजन द्वारा किया गया भ्रांत ज्ञान का प्रचार माना है। देववाद-प्रधान वैदिक-भक्ति संतों की दृष्टि में अवतारी भक्ति जैसी ही है। उपनिषदों की भक्ति-सम्बन्धी विचार-धारा सगुण परमात्मा की भक्ति अर्थात् परवर्ती वासुदेव की भक्ति जैसी नहीं है, जबकि संतों की निर्गुणभक्ति का आधार उपनिषदों में अवश्य विद्यमान है। उपनिषत्काल में भक्तिमार्ग का विकास नहीं हो सका था। इसलिए वैदिक भक्ति, उपनिषदों के समय विकास प्राप्त करने की अपेक्षा उपेक्षित ही अधिक रही है। वैष्णव-विचारधारा के प्रचार के समय ही भक्ति-साधना को अनुकूल प्रश्रय प्राप्त हुआ है। महाभारत के नारायणीयो-पाख्यान तक अवतार का सिद्धांत और भक्ति की साधना दोनों को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

भागवतधर्म के प्रचार के अनन्तर भक्ति को ज्ञान एवं कर्म की दृष्टि में अधिक महत्त्व दिया गया है। गीता में भक्ति का सिद्धांत गीताप्रतिपादित प्रसिद्ध दार्शनिक, सिद्धांतों में से है। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में भी भक्तिसाधना को प्रवेश का अवसर प्राप्त हो गया। गीता के भक्ति-सिद्धांत के अनुसार विश्व की प्रत्येक विभूति परमात्मा का अवतार मानी जाती है। संतों की भक्ति-भावना वैदिक, भागवतधर्म एवं बौद्धों की भक्तिभावना से उस अंश तक प्रभावित नहीं है—जहाँ तक उसका आधार किसी रूप में भी अवतारवाद से सम्बन्धित है। वैदिकभक्ति में प्राकृतिक शक्तियों की देवताओं के रूप में उपासना की गई है।

'पंचरात्रसंहिताओं,' 'भागवतपुराण' एवं 'नारदभक्तिसूत्र की भक्ति-भावना को संतों ने स्वीकार तो किया है परन्तु अवतारवाद और व्यूहसिद्धांत के अनुसार अवतारी विभूतियों एवं उन की प्रतिमाओं के पूजन के सिद्धांत में उनका विश्वास नहीं है। संतों की भक्ति अद्वैतवादी दर्शन से ही विशेष कर प्रभावित है। कबीर ने अपनी भक्ति को 'नारदीभक्ति' कहा है। ज्ञानेश्वर की भक्ति की भाँति निर्गुण भक्ति ही उनका भक्ति-सिद्धांत है। संतों का विश्वास है कि निर्गुण की भक्ति हो सकती है, क्योंकि उनकी दृष्टि में निराकार एवं निर्गुण परमात्मा भावात्मक सत्ता है। संत, परमात्मा के स्वरूप को तत्त्वत: निर्गुण मानते हैं लेकिन निर्गुण से उनका आशय त्रिगुणात्मक प्रभावों से मुक्त सर्वशक्तिमान् परब्रह्म से है, जो दयालु और भक्तवत्सल है। वह शरणागत की सुनता

है। सांसारक जीव उपासनामार्ग के सिद्धांतानुसार वियोग के विरह में अनुभूत वेदना के माध्यम से उसी को पुन: पाने के लिए भटक रहे हैं।

'वैखानसआगमों' एवं 'सूत्रों' में स्वीकृत अवतार के सिद्धांतानुसार भगवान् की प्रतिमा और भगवान् में परस्पर अभेद माना गया है। निर्गुण संत उनकी प्रतिमा की परमात्मा-रूप में आराधना के सिद्धान्त का सर्वत्र खण्डन करते हैं। मन्दिरों में प्रतिमा-पूजन के वाह्याडम्बरपूर्ण विधि-विधानों को अस्वीकार कर उन्होंने पूजा-विधियों का मानसी-करण किया है। उनकी भक्ति सगुणोपासकों जैसी नहीं है क्यों उनकी मान्यता के अनुसार परमात्मा निराकार एवं निर्गुण है। अत: भाव-भक्ति या प्रेम-भक्ति को ही उन्होंने प्रमुख स्थान दिया है। साथ ही संतों ने कर्मकाण्ड-प्रधान वैधी-भक्ति को अहंकार का हेतु माना है। भक्ताचार्यों ने शांकर अद्वैतवाद का खंडन कर, जिन आध्यात्मिक सिद्धांतों के आधार पर वैधी-भक्ति का प्रतिपादन किया है. वह संत-भक्ति से भिन्न हैं।

निर्गुण संत आलवार संतों की भक्ति के परमात्मानुग्रह, प्रपत्ति एवं अनन्यशरण के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। 'नारदभक्तिसूत्र' में बतलाया गया 'ईश्वर में परानुरक्ति रूप भक्ति' का सिद्धांत ही संतों की भाव-भक्ति का आधार है। 'नारदभक्तिसूत्र' एवं 'भागवतपुराण' में ईश्वर के प्रति भक्त की जिन आसक्तियों का प्रतिपादन किया गया है वैसा ही संत-भक्ति में भी। अन्तर केवल इतना है कि संत-भक्ति में अवतारवाद के सिद्धांतानुसार राम एवं कृष्ण आदि के भौतिक शरीर को भगवान् मानकर उनके प्रति वैसी विभिन्न आसक्तियां नहीं हैं जैसी भागवतों की वैधी भक्ति में हैं। विष्णु एवं विष्णु के अवतारों का सिद्धांत संतमत में नहीं माना गया। उन्हें सांसारिक जीव मान कर उनकी परमात्मा के रूप में भक्ति एवं पूजा का उन्होंने खण्डन ही किया है। जिस प्रकार उनके भगवान् का स्वरूप निराकार है उसी तरह उनकी भक्ति की भावना एवं पूजासामग्री का भी।

———

तीसरा अध्याय

नामसिमरन

सामान्य परिचय

योग मन की साधना है क्योंकि इसमें चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। मन इन्द्रियों का सूत्रधार है। परन्तु बदले में वे इसे विषयासक्तियों के प्रभाव द्वारा अपने जैसा बना लेती हैं। इस तरह मन के संस्कार धीरे-धीरे वासनाओं का रूप धारण कर लेते हैं। बौद्धसाधना में इसी लिए अमनसिकार-साधना पर अधिक बल दिया गया है। सिद्धों की साधना भी चित्तसाधना है। भक्ति के प्रकारों में 'पराभक्ति' को सर्वोत्तम भक्ति माना जाता है। भक्ति सगुण की हो अथवा निर्गुण की दोनों का परमसाध्य एक है। साध्य पर्यन्त पहुंचने के केवल मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। निर्गुणभक्ति अन्तःसाधना प्रधान है और अन्तःसाधना में मन को ज्योतिर्मन बनाकर मोक्ष की प्राप्ति में सहायक बनाया जाता है। मन्त्र-चैतन्य की साधना, आत्मा और परमात्मा के अन्तर को मिटाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। नाम का महत्त्व सगुणभक्ति में भी वैसा ही है, जैसा कि निर्गुणभक्ति में। तुलसी ने, 'कहउं कहाँ लगि नाम बड़ाई।' राम न सकहिं नाम गुन गाई' (बा0 कां0) द्वारा नाम की महत्ता को स्वीकार किया है। कबीर और नानक का भक्ति आद्योपान्त नामसिमरन की भक्ति है।

प्रत्येक सम्प्रदाय, सगुण हो या निर्गुण सभी के अपने-अपने मंत्र हैं। इसी को नाम अथवा गुरु द्वारा दिया गया उपदेश कह सकते हैं। सभी सम्प्रदायों के निश्चित मन्त्र तो हैं, परन्तु भक्त को उनकी दीक्षा गुरु के मुख से लेनी पड़ती है। यही कारण है कि सभी साम्प्रदायों में पाखण्डी गुरु की निन्दा की गई है परन्तु सभी का गुरु की पदवी का रूप अपने-अपने विचारों एवं सिद्धांतों के अनुकूल है। निर्गुण सन्तों ने पाखण्डी गुरुओं की बार-बार निन्दा की है, जिस से यह पता चलता है कि इनके समय में गुरु लोग लोभी और लालची बन गए थे ; लेकिन अपने युग के गुरुवाद के विकृतस्वरूप का खण्डन करते हुए भी सन्तों ने गुरु के सर्वोपरि महत्त्व को स्वीकार किया है। तान्त्रिक साधना में मन्त्र का विशेष महत्व है; यहाँ तक कि उनमें 'मन्त्रयान' एक स्वतन्त्र आम्नाय ही बन गया है। मंत्रयान में मन्त्र की अपरिमेय शक्ति को स्वीकार किया जाता है। संतों ने केवल मन्त्रसाधना के बाह्याडम्बर का ही खण्डन किया है जबकि वे नामसिमरन की सच्ची साधना पर स्वयं विशेष बल देते हैं।

निर्गुण संत मन्त्र के क्षेत्र में भी अद्वैतवादी हैं अर्थात् वे केवल नाम को ही

उपयुक्त एवं परिपूर्ण मंत्र मानते हैं। इतना ही नहीं बल्कि कई बार नाम को साध्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। नाम-सिद्धान्त का दार्शनिक-विवेचन तो सन्त-साहित्य में कहीं उपलब्ध नहीं है, लेकिन नाम के कारण साध्य की उपलब्धियों के वर्णनों के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनके नाम का सैद्धान्तिक स्वरूप भी वही है, जिसका दार्शनिक विवेचन मीमांसकों एवं तान्त्रिकों ने जिस रीति से किया है।

नामसिमरन की साधना में मनोवृत्तियों को ईश्वरोन्मुखी बनाया जाता है। अन्तःकरण की मलिनताओं का निराकरण कर अहंकार के भाव का समूलोच्छेद करना नामसाधना की प्रमुख विशेषता है। स्थितप्रज्ञ या आत्मनिष्ठ साधक वही है, जिसने नामसिमरन की साधना द्वारा मन को पूर्णतया प्रभु की भक्ति में लगा दिया है। जवा के फूल की लालिमा जिस प्रकार स्फटिक में प्रवेश कर उसे रक्तवर्ण बना देती है, इसी प्रकार नामसिमरन आत्मा और परमात्मा के भेद की भित्ति को दूर कर, नाम और नामी को एक बना देता है। ऐसी स्थिति में जीव आत्मसाक्षत्कार का लाभ प्राप्त करता है। संतों ने इसे ही आत्मज्ञान या 'स्वरूप का परिचय' कहा है। क्योंकि नामसिमरन द्वारा साधक हमेशा साध्य में लीन रहता है और अपने अस्तित्व को उपास्य में 'फ़ना' कर देता है। मन के वासना से शून्य होते ही, मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियासक्तियां समाप्त हो जाती हैं और साधक जीवन्मुक्ति का अधिकार प्राप्त करता है। उसे सम्पूर्ण विश्व आत्मस्वरूप प्रतीत होने लगता है। यही उसका आत्मपरिचय, आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। नामसिमरन की साधना का यही महत्त्व है। संतमत में इसीलिए नामसिमरन की साधना पर अधिक बल दिया गया है। नाम में वह क्रियात्मक शक्ति है जिस द्वारा समूचा संसार रूपायित होता है।

मध्यायुगीन साहित्य में नाम का महत्व

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुग के सभी सन्तों द्वारा नाम के प्रति अपूर्व श्रद्धा के भाव की विशेषता को स्वीकार किया है। वह लिखते हैं कि "मध्ययुग के लगभग सभी सन्तों ने नाम के प्रति अपूर्व श्रद्धा दिखलाई है। इस युग के सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार के मतों को मानने वाले सन्तों ने नाम की महिमा खूबगाई है। नाममाहात्म्य भागवत आदि सभी पुराणों में पाया जाता है, पर मध्ययुग के भक्तों में इसका चरमविकास हुआ है।"[8] तुलसी ने ब्रह्म एवं राम से भी नाम को बड़ा माना है। उनकी दृष्टि में वह वरदायक और वरदान दोनों है। "ब्रह्म रामते नाम बड़ बरदायक बरदानि। रामचरित सत कोटि मँह, लिय महेस जियजानि।[9] (रा. मा. बा. काण्ड)

नामसिमरन का महत्त्व

निर्गुण सन्तों ने नाम और नामी में अभेद माना है। नाम, नामी का प्रतीक है। गुरुनानक मूलमन्त्र में 'करता पुरख' को 'सति' के साथ ही 'नामु' भी मानते हैं। नाम से ही उन्होंने सृष्टिरचना के सिद्धान्त की व्याख्या भी की

है। नाम का अर्थ है "शब्दब्रह्म, ओंकार या अपरब्रह्म की एक से अनेक होने की इच्छा" जिसकी अभिव्यक्ति नाद और बिन्दु के रूप में होती है, परशिव का यही शिव-शक्तिस्वरूप है। नाम ही सम्पूर्ण सृष्टि है। नाम के बिना विश्व का अस्तित्व ही नहीं है।[10] नाम का सिमरन करने वाला परमात्मा रूप हो जाता है।[11] नाम के दीपक में ही साँसारिक दुखों का तेल सोखने की पूर्ण सामर्थ्य है।[12] गुरुनानक इसी कारण प्रभु से बार-बार नाम के धन की याचना करते हैं।[13] उन्होंने नाम को शून्य समाधि एवं परमपुरुषार्थ बतलाया है।[14] नाम संसार-सागर से संतरण का मुख्य एवं एक ही उपाय है।[15] नाम द्वारा जीव को प्रभु के दरबार तथा संसार दोनों लोकों में प्रतिष्ठा मिलती है। यही सत्य ज्ञान है।[16] हृदय के मन्दिर में नाम की आरती से प्रभु की पूजा की जाती है।[17] नाम मुक्ति है।[18] नाम का शीतलजल तृष्णा की आग को शान्त करने की बलवती शक्ति रखता है।[19] नाम चारों वेदों का सारहै।[20] वह परमतत्व है।[21] यही कलियुग में प्रभु के मिलन का सरलतम उपाय है।[22] वही जप, तप और संयम है [23] वह तुरीयावस्था की स्थिति की उपलब्धि के साधन के [24] अतिरिक्त उत्तम विचारों का भण्डारहै ;[25] और सर्वोत्तम धन भी वही है।[26] यही लाभप्रद वनज है।[27] नाम सिद्धियो एवं ऋद्धियों की खान है।[28] उसकी महत्ता अनिर्वचनीय है। वास्तव में सम्पूर्ण 'आदिग्रन्थ' ही नाम-योग की व्याख्या है। इससे यह स्पष्ट है कि नामसिमरन आदिग्रन्थ का मुख्य विषय है।

निर्गुण सन्तों ने जीव को राम के नाम के सिमरन का उपदेश दिया है। उनका विचार है कि नामसिमरन के अभाव में जीव को भवसागर में डूबने से दूसरा कोई उपाय बचा नहीं सकता। धन एवं परिवार सभी नाशवान् हैं। अजामिल और गणिका नाम के स्मरण से ही भव के सागर से पार उतर सके हैं। राम का नाम अमृत है जबकि अन्य सम्पूर्ण विषयासक्तियाँ विष हैं। जीव द्वारा वैध तथा शुभ और अशुभ कर्मों का परित्याग कर राम के नाम-सिमरन की शरण लेने से उसके सम्पूर्ण कार्य तत्काल सिद्ध हो जाते हैं।[29] कबीर ने कहा है कि राम का नाम लेते हुए यदि शरीर जल भी जाए तब भी चित्त से रामनाम का कदापि त्याग नहीं करना चाहिए।[30] कबीर का धन रामनाम है। वह उस धन का व्यापार नहीं करते, परन्तु उसे गाँठ में बाँध कर रखना भी नहीं चाहते।[31] नाम कबीर की खेती है और राम का नाम ही उस खेती की बाड़ है। नाम का धन निर्गुण सन्तों का धन है और नाम ही उसकी पूंजी है। नाम ही बन्धु है, भाई है। कबीर ने कहा है कि निर्धन कबीर का केवल एक ही धन है, और वह है राम का नाम।[32] कबीर की रामनाम की लग्न अनन्यासक्ति का चरम-रूप है। वह किसी मूल्य पर भी नाम के धन का त्याग नहीं करना चाहते। गुरु के प्रति कबीर की अगाध श्रद्धा है। यदि वह नाम का त्याग करते हैं, तो उनके गुरु को गाली लगती है।[33] जोगी एवं जंगम की सभी साधनाएँ उन की दृष्टि में माया हैं। चातक की भाँति अनन्यासक्ति के भाव से नाम का स्मरण ही उनके विचार में सच्ची साधना है।[34] जीव जब कभी नाम का सिमरन करते समय संकोच के भाव से सोचता

है, तब कबीर उसे फटकार बतला कर कहते हैं, हे गंवार ! क्या सोच रहे हो, हरि के नाम का जाप क्यों नहीं करते ?[35]

संतों ने रामनाम का स्मरण न करने वाले जीवों को समझाते हुए कहा है कि उन्हें नाम के धन के अभाव में अन्त में, अवश्य पछताना होगा। पता नहीं साँसों की यह माला कब और कहाँ टूट जाए, इसलिए उन्हें धन एवं यौवन का व्यर्थ में गर्व नहीं करना चाहिए। रामनाम-सिमरन की भक्ति की पूँजी के अभाव में जीव को मुँह के बल चोट खानी होगी। काल उसे केशों से पकड़ कब कहाँ ले जाए इसका क्या भरोसा ?[36] नामसिमरन के बिना सभी कुछ कालाग्नि है।[37] नाम के बिना आवागमन का चक्कर कदापि समाप्त नहीं होता।[38] परमतत्व को पाने के लिए राम के गुणों का गान ही सर्वोत्तम उपाय है।[39] निर्गुण संतों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस संसार में जीत उसी की है जिसने राम के नाम का भजन किया है।[40]

संतमत में रामनाम में अगाधविश्वास

निर्गुणसंत रामनाम के अनन्य प्रेमी हैं। उनका यह निश्चय है कि जरामरण से मुक्ति एवं भ्रांतियों का विनाश नाम द्वारा ही सम्भव है।[41] वे यह मानते हैं कि अकथ परमात्मा की प्राप्ति का हरिनाम-सिमरन ही रहस्य है। उनकी दृष्टि में वही जीव जाग रहा है, जिसके हृदय में राम का प्रेम निवास करता है। उसकी रात्रिरूपी अज्ञाननिशा सदा के लिए समाप्त हो जाती है।[42] परन्तु जिस ने राम का नाम नहीं लिया वही बार-बार आवागमन के चक्कर में भटकता है।[43]

नाम नामी में अभेद

सन्तों का यह अडिग विश्वास है कि सम्पूर्ण विषयासक्तियों की ओर से मन को हटा कर जो व्यक्ति सच्चे दिल से राम के नाम का स्मरण करता है, वह रामरूप हो जाता है। व्यंग्य से परिपूर्ण शब्दों में इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कबीर ने लिखा हैं—'राम की सौगन्ध, कबीर बिगड़ गया है। कबीर को बिगड़ा हुआ कहने वालो, तुम मत बिगड़ना। चन्दन के निकट निवास करने वाला वृक्ष भी बिगड़-बिगड़ कर चन्दन हो जाता है। लोहा, पारस हो जाता है। मैलाजल, गंगा के पानी में मिलकर बिगड़ जाता है, परन्तु बिगड़-बिगड़ कर वह भी गंगाजल ही हो जाता है।[44] प्रस्तुत प्रकरण में कबीर ने 'बिगर्यो' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा नाम और नामी के अभेदरूप हो जाने का उल्लेख किया है। नामसिमरन से जीव के अहंकार का विगलन हो जाता है और वह परमात्मा के प्रकाश और विमर्श रूपमें मिल जाता है; तद्रूप हो जाता है।

केवल माला फेरना रामनाम-सिमरन नहीं

संतों ने केवल माला के मनके घुमाने को नामसिमरन नहीं माना है। उनके विचार में मानसिक एकाग्रता के अभाव में ; एवं नाम-नामी के स्वरूप के साक्षात्कार के बिना ; नामसिमरन मात्र आत्मप्रवंचना है। एक ओर उन्होंने रामनाम को संसार का 'बोहिथ' कहा है, परन्तु दूसरी ओर वही पंडितों

को फटकार बतलाते हुए कहते हैं, "केवल राम कहने से जीव कदापि सद्गति प्राप्त नहीं कर सकता। क्या, खाण्ड-खाण्ड चिल्लाने से कभी मुख मीठा हुआ है? आग-आग रटने से क्या किसी के पाँव जले हैं? पानी-पानी पुकारने से किसी की प्यास क्या बुझी है? भोजन का नाम लेने मात्र से किसी का पेट भरा है? यदि ऐसा नहीं होता, तब बिना भक्ति की भावना में डूबे राम का नाम लेने से संसार-सागर को पार नहीं किया जा सकता। उनके विचार में पालतू तोते की तरह राम के नाम की रट लगाना ही नाम की साधना नहीं है। प्रभु का अन्तर में साक्षात्कार किए बिना '(एकमेक स्थिति का आनन्द लिए बिना') केवल नाम की रट फलदायक नहीं हो सकती। धन-धन कहने से यदि धनी बना जा सके तो निर्धन किसी को भी नहीं रहना चाहिए। जैसे विषयासक्तियों से प्रेम और हरि-संतों की हंसी उड़ाना मूर्खता है, उसी प्रकार हृदय में प्रभु के प्रेम के अभाव में यमराज की कालफांसी की पीड़ा से मुक्ति की आशा भी व्यर्थ है। नाम, योग है और योग की सिद्धि के बिना रामनाम की खाली रट व्यर्थ है।[45] नामी से एकमेक होकर उसका नाम लेने में ही जीव का कल्याण है। निर्गुण संत रामसिमरन को इसी दृष्टि से स्वीकार करते हैं।

नामयोग सर्वश्रेष्ठ साधना

नामयोग की साधना को निर्गुणसंतों ने सर्वश्रेष्ठ साधना माना है। उनके विचार में यही प्रभु-प्राप्ति का सरलतम उपाय है। वे जीव को सचेत करते हुए कहते हैं, "हे जीव हरि-शरण का त्याग कर अन्यत्र कहीं मत जा। जहाँ जाएगा पतंग की भाँति विषयों की आग तुम्हें वहीं जला देगी। सच्चे हृदय से यदि रामनाम का सिमरन करोगे, तो नाम तुम्हें राम रूप बना देगा। भृंगकीट की भाँति नाम में सभी को राम रूप बना देने की सामर्थ्य है। यह भवसागर अगाध एवं गम्भीर है। रामनाम के 'बोहिथ' पर सवार होकर उस से पार उतर जा। कबीर का उपदेश सुन और हरि की शरण ले"।[46]

नामयोग की तुलना में कर्मकाण्ड के आडम्बरों की निस्सारता

संतों ने नामसिमरन की तुलना में सम्पूर्ण धार्मिक कर्मकाण्ड को व्यर्थ बतलाया है। वे वल्कलवस्त्र धारण कर वनों में भटकने को पाखण्ड मानते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर का गंगाजल से प्रक्षालन करना आदि सभी कुछ मात्र धोखा है। ज्ञानी, ध्यानी, उपदेशक तथा विद्वान् कहलाना सभी सांसारिक धन्धा है। एक नाम ही जीव का सच्चा आधार है। उसके अतिरिक्त सब माया है।[47] संसार-सागर में डूब रहे जीव के लिए रामनाम का जाप ही सच्चा 'तुलहा' है।[48] मन की चंचलता का कारण बनने वाले सम्पूर्ण कर्म अन्धकर्म हैं। गुरु के उपदेश द्वारा किया गया नामसिमरन ही मन की चंचलता को स्थिरता प्रदान कर सकता है। जीव के लिए नींद से जागने का एक यही उपाय है।[49] काल ने जीव को केशों से पकड़ रखा है। वह उसे झटक कर कब समाप्त कर दे, किसी को कुछ पता नहीं चलता। इसलिए जब तक काल का दाँव नहीं चलता रामनाम-सिमरन के कवच को पहन लेना चाहिए। नाम के रक्षाकवच के सम्मुख कोई कुछ भी

बिगाड़ नहीं सकता ।[50] ।

रामनाम-सिमरन इसी जीवन में सम्भव है

संतों का कहना है कि पूर्वजन्मकृत शुभ-कर्मों के कारण जीव मनुष्य की योनि प्राप्त करता है । उनके विचार में इसी जीवन में राम-के नाम की कमाई सम्भव है । प्राणों का पंखेरू उड़ जाने पर तो केवल पछतावा ही रह जाएगा ।[51] जीव तूँ तूँ करता हुआ 'तूँ का रूप' हो जाता है और उसमें 'मैं' नहीं रहती । उसकी ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी मिट जाती है । जीव और ब्रह्म का द्वैत नहीं रहता और उसे सारा संसार परमात्मारूप दिखाई देने लगता है ।[52]

नामसिमरन और भक्ति में अन्तर नहीं

नाम यदि भजन है तो हरिनाम-सिमरन भक्ति है । इसके अतिरिक्त सारे के सारे कर्म बन्धन एवं दुःख के कारण हैं । अतः जीव को चाहिए कि वह मन, वचन, और कर्म से हरि के नाम का सिमरन करे ।[53] जिनके हृदय में राम की भक्ति का प्रेम नहीं, जिह्वा पर राम का नाम नहीं, संतों की दृष्टि में उनका जीना व्यर्थ है । वे व्यर्थ ही इस संसार में आए हैं और व्यर्थ ही वापिस चले जाएँगे ।[54] युगों पर्यन्त कर्म भले ही किए जाओ ; लाभ कुछ नहीं है । रामनाम के बिना परमात्मा के दरबार में कहीं बैठने को स्थान नहीं मिलता ।[55] रामनाम की भक्ति ही सच्चा कर्म है । अन्य सब धोखा है ;[55] भक्ति का वरदान मानवजीवन में ही प्राप्त होता है । प्राणों द्वारा शरीर छोड़कर चले जाने का कुछ निश्चय नहीं । संतों का कहना है कि जो श्वास वर्तमान में हैं, उन्हें कदापि नहीं गंवाना नहीं चाहिए । प्राणों की बत्ती बुझने पर एवं श्वासों का तेल समाप्त हो जाने पर दिनरात सोना ही होगा, अतः रामनाम का अवसर हाथों से किसी भी हालत में न जाने देने में ही अकलमन्दी है ।[57]

कबीर, हरिनाम को शीतलजल के रूप में वर्णित करते हैं और चित्त के संकल्प-विकल्पों की आग की लपटों से संसार को जलता हुआ बतलाते हैं । उनका इस बारे में यह विश्वास है कि "हरिनाम-सिमरन के जल से ही यह आग बुझाई जा सकती है"[53] । चाहे काशी में रहो या कहीं और गंगाजल का पान करो या साधारण उदक का, मुक्ति का उपाय एक ही है और वह है हरिनाम का सिमरन । संतमत में नाम की महिमा का ही केवल वर्णन नहीं, बल्कि मन्त्र-चैतन्य सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हुआ है । मन्त्र में, (राम के नाम) वह शक्ति है, जिसका बल प्राप्त कर जीव परमात्मा से एकमेक होकर सदा आनन्दस्वरूप हो जाता है ।

मंत्र शब्द की व्याख्या

'मंत्र' शब्द का अर्थ है 'विश्वास सहित बात करना' है । इसके अतिरिक्त 'शिक्षा देना','शिक्षा ग्रहण करना'तथा'भजन करना' आदि अर्थ भी ग्रहण किए जाते हैं । 'मंत्र' शब्द की व्युत्पति मन्तृङधातु से है । तंत्रशास्त्रों के अनुसार 'मंत्र' शब्द का अर्थ विधिपूर्वक चिन्तन एव भजन करना' है । पिंगलतंत्र में मंत्र का अर्थ 'विश्व के

स्वरूप का सत्यज्ञान एवं 'बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला साधन' किया गया है।[1]

'महानिर्वाणतन्त्र' के अनुसार मंत्र को देवताओं का शरीर बतलाया गया है।

मंत्रशक्ति का महत्त्व

'यामलतन्त्र' में मन्त्र के 'बीज' से देवशरीरों की उत्पत्ति की चर्चा मिलती है। वर्ण चेतनशक्तियां हैं और मन्त्र-साधना को क्रियायोग बतलाया जाता है। क्रियायोग में आत्मशोधन को मुख्य स्थान प्राप्त है। मंत्रों को आत्मशोधन में विशेषकर सहायक माना गया है। आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए चित्त की संकल्पविकल्पात्मक शक्ति को निष्क्रिय बनाने का प्रयत्न किया जाता है। जिस समय तक चित्त संकल्पविकल्प करता रहेगा, तब तक उसका सम्बन्ध वाह्यजगत से अवश्य बना रहता है। सिद्ध पुरुषों का विश्वास है कि परमसत्य की उपलब्धि समाधि की अवस्था में ही सम्भव होती है और क्रियायोग में यह सामर्थ्य है कि वह मन को समाधि की अवस्था के योग्य बनाता है। पातंजलयोगदर्शन में क्रियायोग का लक्षण 'तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि क्रिया योगः' दिया गया है। भाष्यकार व्यास ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए मन की साधना, (मन वचन और कर्म पर शासन) मन्त्रजाप, अध्यात्मसम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन तथा परमात्मा की पूजा आदि सभी को क्रियायोग बतलाया है।[2]

क्रियायोग का प्रधानकार्य चित्तशोधन है और चित्तशोधन का अर्थ है 'राजसिक एवं तामसिक क्रियाओं से मन को हटा कर उन्हें सात्विककर्मों की ओर नियोजित करना।' यह स्थिति तपस्या की साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। शरीर को हानि न पहुँचने वाली तपस्या ही मन की शुद्धि का साधन है। प्रणव एवं अन्य मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है। मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र भी स्वाध्याय के भीतर गिने गए हैं। अपने सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वरार्पण कर देना प्रणिधान है। सम्पूर्ण निष्काम कर्म प्रणिधान की कोटि में गिने जाते हैं।[3]

यह विश्वास किया जाता है कि मंत्र का जप 'सम्प्रज्ञात समाधि' की अवस्था की प्राप्ति में विशेष सहायक है। संप्रज्ञातसमाधि में सम्पूर्ण संचित कर्मों का नाश हो जाता है। भक्ति एवं प्रेम की साधना से जीव लिप्त बनाने वाले कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस से भक्त या साधक के अशांत मन को शांति की प्राप्ति होती है। सन्ध्या एवं पूजा आदि के अनुष्ठान में इसी कारण मन्त्र आवश्यक समझे गए हैं। मंत्र-जप में मन को वाह्यवस्तुओं की ओर से निरासक्त बना देने की पूरी-पूरी सामर्थ्य है। मंत्र ही पूजा द्वारा इच्छित फल की प्राप्ति का अधिकारी बना सकते हैं। मंत्रों की सहायता से साधक साध्यरूप हो जाता है और यह तदाकारपरिणति साधक एवं साध्य के मध्यवर्ती अन्तर को मिटा देती है। उस समय मन की उत्तम एवं सात्विक शक्तियां जागृत हो जाती हैं। यह भी विश्वास किया जाता है कि साधक का मन जन्म सेऔषधियों के सेवन एवं मंत्रजप आदि साधनों से असाधारण शक्तियों का अधिकारी बन सकता है।[4] संतमत में मंत्रजप का इसीलिए विशेष महत्त्व है।

भक्ति की उपासना में भक्त का साध्य परब्रह्म का साक्षात्कार माना गया है। परब्रह्म को अव्यय एवं परमसत्य माना जाता है। उसे अनुभव का विषय ज्योतिर्मन

द्वारा बनाया जा सकता है। गुण (सत्व, रज, तम) मन की प्रधान शक्तियां हैं। मन जब ज्योतिर्मय बना लिया जाता है तब वह परमतत्त्व की प्राप्ति में पूर्ण रूपेण सहायक सिद्ध होता है। जब तक मन में उपर्युक्त तीनों गुण क्रियाशील रहते हैं वह आनन्द एवं पूर्ण चैतन्य का अधिकारी कदापि नहीं बन सकता।

मंत्र एवं शब्दब्रह्म

भक्ति का विषय शब्दब्रह्म है और वही 'सविशेषईश्वर' कहलाता है, जबकि परब्रह्म को निर्विशेष सत्ता माना गया हैं। 'बीजमन्त्र' को शब्द-ब्रह्म माना जाता है। मन्त्र की वाक्शक्ति चैतन्यप्राणतत्त्व (Vital intelligent consciousness) है। अत: इसकी साधना से निर्गुणब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। वही शक्ति के रूप में कुण्डलिनी और शक्तिमान् के रूप में परशिव एवं महाविष्णु है। वाच्यशक्ति का अनुभव वाक् शक्ति द्वारा होता है, जिसे निर्गुणब्रह्म कह सकते हैं। मन्त्र के इसी महत्त्व के कारण उसे केवल 'वर्ण' या 'अक्षर' मानने का निषेध एव विरोध किया जाता है।[5] मन्त्र को भव के रोगों की औषधि माना गया है। रोगी वह है, जो सांसारिक विषयों में आसक्त है एवं उसके रोग का निदान करने वाला 'गुरु' है। गुरु शक्ति की परिचारिका 'मंत्र की औषधि' देकर साधक को भवरोग से मुक्त करता है। भवरोग जन्मजन्मान्तरों के आवागमन के चक्कर का रोग है। माया इसी रोग के रोगियों पर अपना प्रभाव जमाती या जमा सकती है। सद्गुरु भवरोग से पीड़ित शिष्य को रोग के वास्तविक कारण का पता बतलाता है। वह उसे जन्म की औषधि का सेवन करवा कर विषयासक्तियों के कुपथ्य से बचाता है और उस के भवरोग को दूर करता है।[6]

कुण्डलिनी शक्ति के दो पक्ष माने गए है। एक पक्ष में वह मन्त्रमयी है। मन्त्रों का प्रयोग कुण्डलिनीशक्ति की उत्थान-प्रक्रिया में किया जाता है। वर्णमाला के वर्ण सम्पूर्ण शरीर के चक्रों (मूलाधार आदि) की पँखुरियां माने गए हैं और प्रत्येक कमल में उसी के तत्त्वों के रूप में बीजमन्त्र स्थित हैं।[7] 'कुलार्णव तन्त्र' में मन्त्र को शक्ति माना गया है और मन्त्रों द्वारा उच्चाटन, मारण आदि शक्तियों की सिद्धियों का व्याख्यान भी हुआ है। शब्द, मन्त्र का व्यक्तरूप है। वह मन को अपने स्वरूप जैसा बना लेता है।

वैदिक साधना में मन्त्र का स्थान

वैदिकसाहित्य के संहिताभाग और ब्राह्मणग्रन्थ दो प्रधान भेद माने जाते हैं। मंत्र-भाग में देवताओं के स्वरूप की चर्चा है और उनकी शक्तियों की स्तुतियाँ हैं। ब्राह्मणभाग में यज्ञों की क्रियाविधियों के बारे में विस्तार सहित चर्चाएँ हैं। वैदिक युग के ऋषियों का यह विश्वास है कि विधिपूर्वक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण से देवता प्रसन्न होते हैं। देवताओं की प्रसन्नता यजमान को ऐहिक तथा पारलौकिक सुखसमृद्धि प्रदान करती है। इसी प्रकार मन्त्रों की शक्ति से ही सीधा एवं इच्छित प्रभाव भी उत्पन्न किया जा सकत है।

अर्थ की दृष्टि से मन्त्र को अनिर्वचनीय दैवीय शक्ति माना गया है। यह विश्वास किया जाता है कि शब्द या शब्दसमूह का ध्वनिपक्ष अभिधेयार्थ से कई गुणा अधिक

शक्ति रखता है। शब्द या शब्दसमूह का यह ध्वनिपक्ष दोनों लोकों में सुख एवं आनन्द की उपलब्धि का समर्थ उपाय बतलाया गया है। मन्त्रसाधना द्वारा मन्त्र के देवताओं को प्रसन्न कर अनेक प्रकार की शक्तियाँ और सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। मन्त्र की शक्ति मात्र अर्थज्ञान तक ही सीमित नहीं है बल्कि इस सीमा से ऊपर उठकर मन्त्र ध्वनितरंगों द्वारा गहरे प्रभावों का कार्य करते हैं। यज्ञविधान में मन्त्रों के शुद्धउच्चारण पर उसी कारण अधिक बल दिया गया है। मन्त्र की एक मात्रा या ध्वनि के वैपरीत्य से महान् हानि की सम्भावना हो सकती है। वैदिकसाहित्य में ऐसी अनेक रोचक कथाएं हैं जिन में यज्ञ के फल का पूर्ण नाश एवं अनिष्ट की प्राप्ति के वर्णन हुए हैं। अतः स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मन्त्रशक्ति के प्रति अत्यधिक विश्वासी एवं श्रद्धालु हैं।

मीमाँसाशास्त्र का शब्द सिद्धांत तथा मन्त्रशक्ति में उस का उपयोग

मीमाँसकों का मन्त्र की गुह्यशक्ति में पूर्ण विश्वास है। उनके कथनानुसार मंत्रशक्ति-विधान ही यज्ञविधान का प्राण है। उन्होंने शब्दसिद्धांत का दार्शनिकविवेचन भी किया है। तदनुसार शब्द का स्वभाव सनातन एवं शाश्वत माना है। शब्द ध्वनि के रूप में परम-तत्त्व का प्रतीक है। यही कारण है कि ऋषियों को मन्त्रस्रष्टा नहीं कहा जाता अपितु केवल मन्त्रद्रष्टा ही माना जाता है। ऋषियों ने समाधि की अवस्था में परमसत्य के ज्ञान की प्राप्ति ध्वनिरूप में की है। उसी दृष्टिकोण के कारण वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। या उन में वर्णित विधि-निषेध ईश्वरीयउपदेश माने जाते हैं। वेदों की अपौरुषेयता के प्रस्तुत सिद्धान्त को ठीक रीति से न समझने के कारण कभी कभी भारतीय चिन्तकों के इस सिद्धांत का उपहास भी किया जाता है। मीमाँसकों का यह अटूट विश्वास है कि सृष्टि के प्रलय के अनन्तर भी वैदिक मन्त्र बचे रहेंगे; क्योंकि वे परमसत्य के शरीर हैं। अनेक देवताओं की सत्ता एवं उनकी शक्तियों के बारे में किए गए प्रश्नों का उत्तर मीमाँसकों ने शब्दसिद्धान्त द्वारा दिया है। 'शब्दसिद्धान्त'के अनुसार यह माना जाता है कि देवताओं का मन्त्र से भिन्न एवं स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मन्त्र देवताओं की प्राणशक्तियाँ हैं और उन्हें देवताओं के व्यक्तस्वरूप माना गया है।

संहिताभाग तथा ब्राह्मणग्रन्थों में वाग्देवी को प्रजापति (सृष्टि रचयिता) की सृष्टि माना गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में ये उल्लेख भी मिलते हैं कि प्रजापति ने बाद में अपनी ही सृष्टि (कन्या) से विवाह कर लिया। इसी प्रकार अन्यत्र कई प्रसंगों में वाक् को आदितत्त्व (परब्रह्म) के बाद दूसरा स्थान भी दिया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में वाक् एवं प्राण को प्रथम मिथुन के दो विभिन्न पक्ष बतलाया गया है। ऋग्वेद को वाक् का साररूप तत्त्व भी स्वीकार किया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि परमतत्त्व ने 'एक से अनेक होने' की इच्छा के रूप में मनस् और वाक् को मिलाकर सृष्टि के सब से पहले दम्पति (मिथुन) को जन्म दिया है। इसी संदर्भ में वाक् को माता और मनस् को पिता के प्रतीक के रूप में भी वर्णित किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रस्तुत वर्णन से ध्वनित होता है कि सृष्टि का निर्माण चेतनसत्ता से होता है और वह

सत्ता सृष्टि की रचना से पहले आत्मचैतन्य की निर्विशेष स्थिति की हालत में विद्यमान रहती है। आत्मचैतन्य की दशा में उसे अपने स्वरूप का बोध एवं अनुभव बना रहता है। उसी चेतनसत्ता की इच्छा, विचार एवं निर्माण की शक्ति रचयिता रूपी तरंग का रूप धारण करती है। वाक् को परमचैतन्य बतला कर तरंग के रूपक या प्रतीक द्वारा समझाने के प्रयत्न भी किए गए हैं। यह कहा जाता है कि दो की स्थिति तो केवल कहने के लिए है। इसे दो में एक और एक में द्वैत की अवस्था का नाम दे सकते हैं। विचारशक्ति (Ideation) के अभाव में सृष्टि की रचना के आरम्भ की कल्पना ही संभव नहीं हो सकती क्योंकि अभाव अथवा शून्य में विचारशक्ति किसी भी हालत में सम्भव नहीं है। उसे अपने अस्तित्व के लिए आधार चाहिए और उसका आधार है रचना-तरंग। रचनातरंग का सिद्धान्त ही तान्त्रिकों के सृष्टिसिद्धान्त का आधार है, जिसे साम्प्रदायिक शब्दावली में नाम-भेद द्वारा स्पष्ट किया जाता है। नाद और बिन्दु तथा शिव और शक्ति का सिद्धान्त भी यही है। शुद्धसत्ता, स्वरूप एवं अस्तित्व की अवस्था तक सृष्टि के परवर्ती क्रमिक विकास का आधार है। उसे उपादान एवं निमित्त दोनों प्रकार के कारण माना जाता है। परमतत्त्व समरसावस्था में अपनी शक्ति को अपने भीतर समेटे रहता है। शब्दब्रह्म, अशब्दब्रह्म का क्रियाशील उन्मेष है। उपनिषदों में ब्रह्म के अव्यक्त एवं व्यक्त दोनों अर्थात् निर्विशेष और सविशेष रूप स्वीकार किए गए हैं।

वैय्याकरणों का सिद्धान्त

वैय्याकरण ध्वनि को शब्द का व्यक्तरूप मानते हैं। उनका विश्वास है कि शब्द प्राण, वायु, एवं स्वरतन्त्रियों आदि के माध्यम से व्यक्त होता है। उसी को वैखरीशब्द की निर्माणभूमि कहते हैं। मध्यमा की स्थिति से पूर्व की अवस्था 'पश्यन्ती' कहलाती है। पश्यन्ती में शब्द एवं शब्द का अर्थ दोनों ही अविभक्त एवं अस्पष्ट अवस्था में होते हैं। इस समय की अवस्था की वट के बीज में वर्तमान वट के वृक्ष की अवस्था से तुलना की जाती है। शब्द 'पररूप' में पश्यन्ती से भी परे विद्यमान रहता है। इसे शब्द की 'अविभक्त दशा' भी कहा गया है। यही शब्द-शक्ति का मूलाधार है। शब्दशक्ति का निर्माण मानवकृत प्रयत्न नहीं है और नहीं उसे अकस्मात् स्थिति ही मान सकते हैं। प्रत्येक शब्द अपने परमरूप में एकीकृतपराशक्ति (Unit of Power) है। इस अवस्था की शक्ति, अद्वैतरूप कहलाती है। वही सम्पूर्ण सृष्टि की आदिकारण है। अर्थ को शब्द का केवल प्रकारविशेष माना जाता है। इस के मूल में विश्वशक्ति की अद्वैतदशा बनी रहती है। यही मन्त्र की मूल या आदिशक्ति है। शब्द की पराशक्ति एवं शब्दब्रह्म में परस्पर अभेद है। तान्त्रिक साधक, परावाक् को 'परमाशक्ति' मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि उसी में यह सृष्टि बीज में वृक्ष की भाँति अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहती है और पराशक्ति की सहायता से साकार रूप धारण करती है।

बौद्धधर्म के मतानुसार वेद अपौरुषेय नहीं हैं। वे यज्ञों के विधान की प्रेरक-

बौद्धमत एवं मंत्रसाधना

कल्पनाओं में आस्था एवं विश्वास नहीं रखते। बुद्ध ने बार-बार पूर्वमीमांसा-प्रतिपादित कर्मकाण्ड के दार्शनिक सिद्धान्तों एवं क्रियाओं का खण्डन किया है। परन्तु बौद्धधर्म में मंत्रसाधना को स्वीकार कर लिया गया है। वहाँ हमें मंत्रशक्ति के खण्डन के उल्लेख नहीं प्राप्त होते। कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही एक ऐसा वर्ग विद्यमान था जो मंत्रसाधना एवं तान्त्रिकविचारधारा की ओर उन्मुख था। बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त महायान में मंत्रसाधना बल पकड़ने लगी। बौद्धधर्म के दार्शनिक, धार्मिक एवं साधनापरक सिद्धान्तों के अध्ययन से पता चलता है कि उसके मूलभूत सिद्धान्तों में ही मंत्रतत्त्व के प्रति विश्वास का आधार पहले से ही विद्यमान था। बौद्धग्रंथों में पाए जाने वाले मंत्र को रहस्यमयी शक्ति मानने के संकेतों से पता चलता है कि बुद्ध के समय भी इस प्रकार के विचार एवं विश्वास बने रहे होंगे।

जैनधर्म के धार्मिक साहित्य में भी मंत्रसाधना एवं मंत्रशक्ति के प्रति विश्वास की भावना के उल्लेख मिलते हैं। 'मंगलसूत्रों' की शक्तियों में जैनधर्मावलम्बियों की दृढ़ आस्था है। बौद्धधर्म की महायान शाखा के विभिन्न आम्नायों में धारणिसाधना को विशिष्ट एवं प्रसिद्ध साधना मान गया है। 'धारणि' बौद्धधर्म का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ भी पारिभाषिक सा ही बन गया है क्योंकि वह विशेष प्रकार की विधि या प्रक्रिया का परिचायक है। तान्त्रिकबौद्ध धारणि का अर्थ 'रहस्यात्मकवर्ण' करते हैं। यह विश्वास भी किया जाता है कि इन्हीं रहस्यमय वर्णों में मानवजीवन को धार्मिक स्थिरता प्रदान करने की शक्ति है। महायानशाखा के सभी तान्त्रिक आम्नाय मंत्र के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और मंत्रसाधना द्वारा सिद्धियों की प्राप्तियों में विश्वास रखते हैं। कहा नहीं जा सकता कि बौद्धतान्त्रिकों ने मंत्र-महत्त्व को हिन्दू-तान्त्रिकों से प्राप्त किया है अथवा दोनों ने किसी समान स्रोत से ही प्रस्तुत विचारधारा को अपनाया है। बोधिसत्त्वभूमि में बतलाया गया है कि 'इति किति मिति मिक् पदानि स्वाहा' के अक्षर निरर्थक नहीं हैं। यह भी कहा है कि साधक उन्हें सार्थक मान कर ही साधनापथ पर अग्रसर होता है। मंत्रों का अर्थ 'शून्य' माना जाता है और इसी शून्यता में ही सार्थकता की खोज की जाती है। तान्त्रिकसाधना के अनुसार अन्तर्ज्ञान द्वारा साधक को मंत्र के शून्यभाव का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। साधक शून्य की अनुभूति का अधिकारी बन कर मंत्र के अद्वय एवं परात्पर अर्थ का सही ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसे मंत्र के गुह्य-अर्थ की साक्षात् अनुभूति होने लगती है। मंत्र कई प्रकार के हैं। वे एकाक्षर भी हैं और अक्षरसमूहों के रूप में भी पाए जाते हैं। ऐसा लगता है कि प्रस्तुत सिद्धान्तों का आधार वेद का गायत्री मंत्र है। 'ओ३म्' वेद का महत्त्वपूर्ण एकाक्षर मंत्र है। इसे प्रणव भी कहा गया है। वह परमतत्त्व का ध्वनिप्रतीक माना जाता है। इस के तीनों अंश (अ+उ+म्) तत्त्व विशेष के प्रतीक हैं। परमतत्त्व की विश्वात्मा और जीव के रूप में चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। ये अवस्थाएँ जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयास्था कहलाती हैं। तुरीयावस्था अव्यक्ता-

वस्था है। परमसत्ता की यह अवस्था वर्णनातीतावस्था है। सुषुप्ति की हालत में आस्मिताभाव का धुन्धला रूप विद्यमान रहता है। इसे परमतत्त्व की सर्जनशीलभावना कह सकते हैं। स्वप्नावस्था में विचार एवं सर्जनशक्ति (Ideation) दोनों ही भूल सृष्टि की तरंग में ही अभिन्नरूप में विद्यमान रहते हैं। व्यक्तसृष्टि जागृतावस्था है। 'ओ३म्' का अ+उ+म् ब्रह्म की जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति आवस्थाओं के प्रतीक हैं। उपर्युक्त तीनों इकाइयाँ सम्मिलित रूप में तुरीयावस्था का निर्माण करती हैं। इन्हें परमसत्ता की निर्विशेषावस्था से अव्याक्तावस्था और अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था के उत्तरोत्तर क्रम का सांकेतिक परिचय भी मान सकते हैं। 'ओ३म्' परमसत्ता का परिपूर्ण रूप है।

ओम् के सम्बन्ध में

ओम् को स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणतत्त्व का प्रतीक भी माना गया है। यह सृष्टि, स्थिति एवं संहार का भी सूचक है। इसे ब्रह्मा विष्णु एवं शिव का प्रतीक भी कह सकते हैं। प्रत्येक मन्त्र का यह बीज हैं। परवर्ती उपनिषदों में ओम् को विभिन्न रूपों में निम्नलिखित प्रकार से वर्णित किया है —

		अ	उ	म्
1.	ब्रह्म की अभिव्यक्तियां	(Forms of God)...ब्रह्मा	...विष्णु	...शिव
2.	विशेषताएं (गुण)	(Qualities)...रजस्	...सत्व	...तमस्
3.	रंग	(Colours)...रक्त	...श्वेत	...कृष्ण
4.	विश्व	(Worlds)...पृथ्वी	...द्यौ	...स्वर्ग
5.	लोक	(Planes)...भु	...भुव०	: स्व०
6.	देवता	(Lords)...अग्नि	...वायु	...सूर्य
7.	देवियां	(Queens)...गायत्री	...सावित्री	...सरस्वती
8.	काल	(Times)...भूत	...वर्तमान	...भविष्यत्
9.	प्राण	(Breaths)...पूरक	...कुंभक	...रेचक
10.	शरीर	(Bodies)...स्थूल	...सूक्ष्म	...कारण
11.	पक्ष	(Aspects)...शारीरिक	...मानसिक	...बौद्धिक
12.	स्थान	(Centres) : आँख	...गला	...हृदय
13.	शक्तियां	(Characters) ..इच्छा	...कार्य	...ज्ञान
14.	अवस्थाएं	(States)...जागृत	...स्वप्न	...सुषुप्ति
15.	आत्मा	(Self)...वैश्वानर	...तैजस्	...प्राज्ञ
16.	वेद	(Vedas)...ऋक्	...यजु:	...साम
17.	अग्नियां	(Fires)...ग्रहवेत्य	...दक्षिण	...अहवनीय

उपनिषत्काल के अनन्तर देवी देवताओं की उपासना के सिद्धान्त का विशेष प्रचार हुआ। देववर्ग के कुछ देवता वैदिकआर्यों के थे और कुछ आर्येतर वर्ग के। वैदिक एवं अवैदिक तत्त्वों के मिश्रण से आगमों, पुराणों, शैव एवं वैष्णव आदि संहिताओं

में मन्त्रों का विशेष प्रचार एवं प्रसार गया है। मन्त्रों का उपयोग देवताओं की स्तुतियों, प्रार्थनाओं, चिन्तन-मनन एवं प्रणाम आदि के रूप में होता रहा है। विभिन्न देवताओं के मन्त्र रचे गए और 'बीज-मन्त्रों' के रूप में 'एकाक्षर मन्त्रों' की साधना पर बल दिया गया।

पातंजल योग एवं मन्त्रदर्शन

पतंजलि ने मन्त्र-साधना पर अधिक बल नहीं दिया है। वह समाधि अवस्था की प्राप्ति को ही योग-साधना का प्रधान लक्ष्य मानते हैं। उन्होंने मन्त्रों को केवल समाधि-अवस्था की प्राप्ति में सहायक माना है। मन्त्र का जाप चित्त की एकाग्रता का साधन है और समाधि-अवथा की प्राप्ति में विशेष सहायक है। पंतंजलि ने प्रणवजाप को ईश्वर के प्रतीक की उपासना बतलाया है।

हठयोग-सिद्धान्त में मन्त्र का स्थान

हठयोग-साधना में भी मन्त्र-शक्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल नहीं दिया जाता। यह साधना केवल मन्त्र की दीक्षा में ही विश्वास रखती है और उन्हें यौगिकप्रक्रियाओं एवं साधनाओं में मात्र सहायक साधन मानती है। हठयोगियों का प्रधान लक्ष्य सदेह मुक्ति प्राप्त करना है। वे दैवीय या सिद्धदेह की प्राप्ति की साधना में विश्वास रखते हैं। वे शरीर में ही परमतत्त्व का निवास मानते हैं और 'अनाहतनाद' की ध्वनि की सिद्धि को विशेष महत्व देते हैं। अनाहतध्वनि का सिद्धान्त ध्वनि को सृष्टि की रचना का मूल कारण स्वीकार करता है।

तन्त्रसाधना और मन्त्रशास्त्र

तन्त्रसाधना में मन्त्रशास्त्र के सम्बन्ध में किसी नवीन एवं मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ है। पूर्वप्रतिपादित मन्त्र-सम्बन्धी विचारों को एकत्रितकर शिव एवं शक्ति आदि के अपने-अपने सिद्धान्तों एवं साधनामार्गों के अनुकूल कुछ अन्तर भर कर दिए गए हैं। अव्यक्त शब्दब्रह्म उन का शिव है। व्यक्त शब्दब्रह्म को शक्ति का नाम दिया जाता है। बिन्दु और नाद, शिव और शक्ति के प्रतीक हैं। बिन्दु की रक्षा को स्वीकार तो किया जाता है परन्तु उस का अपने आप में विस्तार नहीं है। नाद उस का विस्तार है। नाद का विस्तार बिन्दु के कारण माना गया है, क्योंकि बिन्दु नाद की मूल प्रकृति (Creative Vibration) है और नाद उसी की अभिव्यक्ति। मंत्र नादरूप हैं। ध्वनियों को शक्तियाँ कहा है और उन्हें मातृका अक्षरों की पूर्ण प्रतिमाएं माना जाता है। वर्णों को मातृकाएं कहा गया है। तन्त्रशास्त्र में प्रत्येक अक्षर को मन्त्र कहा है और उसे शरीर के किसी न किसी अंग का प्रतीक बतलाया है। इस तरह शरीर का प्रत्येक अंग महाशक्ति के किसी न किसी पक्ष का मूर्तरूप है।

तान्त्रिकसाधना के अनुसार 'बीजमन्त्र' सम्पूर्ण मन्त्र का प्रधानतत्त्व है। हिन्दूधर्म का प्रत्येक सम्प्रदाय इस सिद्धान्त में पूर्ण आस्था रखता है। जैसे कि ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक देवी-देवता का कोई न कोई बीजमन्त्र होता है। साधकों का कहना है

कि विधिपूर्वक मन्त्र का जाप करने से देवता प्रत्यक्ष हो सकते हैं। बीजमन्त्र को देवताओं का मूल या आदिस्रोत माना जाता है। यह भी स्वीकार किया गया है कि बीजमन्त्र ही अपने देवता का सूक्ष्म रूप या शरीर होते हैं।

तान्त्रिकों के दार्शनिक विचारों के अनुसार प्रत्येक देवी देवता परमसत्य(ब्रह्म) का अवतार है और बीजमन्त्र परमात्मा के पूर्णत्व को अपने भीतर समेटने में सयर्थ हैं। वह मूलतत्त्व की छोटी से छोटी परन्तु अपने आप में स्वतन्त्र एवं परिपूर्ण इकाई है। तंत्रग्रंथों में मन्त्र, अर्थशून्य अक्षरों के आकार में लिखे मिलते हैं। तान्त्रिकसाधना में इन्हीं द्वारा देवीदेवताओं की पूजा भी की जाती है। जादू टोने आदि के लिए भी उन्हें प्रयोग में लाया जाता है। इस से यह पता चलता है कि मन्त्र में अपने आप में चैतन्यशक्ति विद्यमान है और साधना द्वारा उस शक्ति को जागृत कर सभी कुछ किया जा सकता है।

निर्गुण-सन्तों के नाम सिमरन-सिद्धांत की विशेषताएँ

निर्गुण-संतों के नाम-सिमरन के सिद्धांत की पृष्ठभूमि का उल्लेख करते समय दी गई 'मंत्र' शब्द की व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि 'मंत्र' शब्द का अर्थ 'मनन एवं विधिपूर्वक चिन्तन करना' है। मीमांसकों का शब्दसिद्धांत, नामसिमरन के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। योगसूत्रों के भाष्यकार व्यास ने क्रियायोग में मंत्र-जाप का भी उल्लेख किया है और शरीर को हानि न पहुँचाने वाली तपस्या को मन की शुद्धि का साधन माना है। उनके विचार में मंत्र-जप, संप्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति में विशेष सहायक है। साधक, मन्त्र-जाप द्वारा मन को वाह्य विषयों की ओर से निरासक्त करने का प्रयत्न करता है। मंत्र-साधना द्वारा वह अपने उपास्य में तद्रूप हो सकता है। मंत्र-शक्ति द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति संभव है। यद्यपि संतों ने उपर्युक्त सम्पूर्ण सिद्धांतों को नाम-सिमरन की साधना में स्वीकार किया है तथापि सैद्धान्तिक विवेचन की परिपाटी संतों ने कहीं भी स्वीकार नहीं की है।

निर्गुण संत नामसिमरन को मन-साधना या नाम-योग मानते हैं। उन्हें मंत्रमयी, कुण्डलिनी का सिद्धांत मान्य नहीं है। तांत्रिकों की भाँति धारणियों एवं बीजमन्त्रों, मंत्र-चैतन्य तथा देवता को मन्त्र-रूप में मानने की सैद्धान्तिक पद्धति को वे स्वीकार नहीं करते। 'वर्णमाला के सम्पूर्ण वर्ण शरीर के चक्रों की पंखुरियां हैं' इस प्रकार के सिद्धांत में भी उनका विश्वास नहीं है। मीमांसक, मंत्र-शक्ति के सिद्धान्त को यज्ञ-विधान का प्राण मानते हैं। वे मन्त्रों से अलग देवताओं के स्वतंत्र व्यक्तित्व को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु संत नहीं। संतों ने उस रीति से कहीं पर भी अपने नाम-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है, फिर भी उनके नामसिमरन-योग से यह ध्वनि निकलती है कि मीमांसकों एवं तान्त्रिकों के सिद्धान्तों को उसी रूप में मान्यता न देते हुए भी उनका नामसिमरन-सिद्धांत प्रस्तुत सिद्धान्तों की विचारधारा से बहुत भिन्न प्रकार का नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि वे किसी साकार देवता या परमात्मा की उपासना को नहीं मानते। उनका निर्गुण एवं निराकार परमात्मा भावात्मक सत्ता है, उसके अपने गुण हैं,

जिनके चिन्तन का सन्तों ने नामसिमरन के सिद्धान्त द्वारा उपदेश दिया है।

मध्ययुग का भक्तिसाहित्य (निर्गुण एवं सगुण) समान रूप से नाम के महत्त्व को स्वीकार करता है। संतों की भाँति सगुणोपासकों ने भी भगवान् से नाम को बड़ा माना है। संतमत रामनाम-सिमरन एवं प्रेमाभक्ति में अगाध विश्वास रखते हैं। उनके विचार में नामसिमरन केवल माला फेरना ही नहीं। तोते की भाँति निरर्थक राम के नाम की रट को भी वे नामसिमरन नहीं मानते। उनका विश्वास है कि भक्त को अपने भगवान् के गुणों का चिन्तन करना चाहिए। वे चिन्तन एवं भावभक्ति द्वारा ईश्वर में अनुरक्ति को नाम-सिमरन मानते हैं। यहीं पर उनके नाम का सिमरन, नामयोग की उपाधि धारण कर लेता है। सन्तों ने इसे सर्वश्रेष्ठ साधना बतलाया है। वे नामसिमरन-योग की तुलना में अन्य सम्पूर्ण धार्मिक-कर्मों एवं वेशभूषा आदि को व्यर्थ मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि नामसिमरन और भक्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। संतों की भावभक्ति, नामसिमरन का ही पर्याय है।

वैयाकरणों के शब्दसिद्धान्त के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उनके वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती आदि के सिद्धान्त का प्रभाव परम्परा के माध्यम से संतों के नाम-सिमरन के सिद्धान्त पर भी पड़ा हैं। जैन एवं बौद्धधर्म में अपनी-अपनी दार्शनिक शब्दावली में निरर्थक वर्णों में ही सच्ची सार्थकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। उनका विश्वास है कि साधक को अन्तर्ज्ञान द्वारा मंत्र के शून्य-भाव का स्वरूप स्वतः स्पष्ट होने लगता है। वही अद्वय-स्थिति एवं परात्पर-ज्ञान का हेतु एवं साधन है। संतों ने इस तरह के सिद्धान्त का न तो स्वयं ही प्रतिपादन किया है और न ही इसे माना है। ओम् को परमसत्य का ध्वनि-प्रतीक मानने के सिद्धान्त में संतों की आस्था दिखाई पड़ती है। 'ओम्' का परम सत्य की निर्विशेषावस्था से अव्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था के क्रम के सिद्धांत का प्रभाव भी संतों की नामसिमरन-साधना पर देखा जा सकता है। यही कारण है कि 'ओम्' को शब्दब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है।

पतंजलि ने मंत्र को समाधि-अवस्था की प्राप्ति में सहायक माना है और मंत्र-जाप को चित्त की एकाग्रता का साधन बतलाया है। वे प्रणव को ईश्वर का प्रतीक मानते हैं। उनकी दृष्टि में नाम, साधना की सामान्य कोटि है लेकिन निर्गुण संत नाम को साधना की केवल सामान्यकोटि नहीं मानते। नानक ने नाम की साधना के सम्बन्ध में जिस रीति से अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं उससे प्रतीत होता है कि उनके विश्वास के अनुसार कर्मयोग एवं भक्ति आदि साधनाएँ नाम की साधना के ही साधन हैं तथा नाम की पूर्ति उनका साध्य है। हठयोगी सदेहमुक्ति के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं। अनाहतनाद की चर्चा भी उन्होंने की है परन्तु संतों की भाँति वे नामसिमरन को प्रमुख स्थान नहीं देते। हठयोग की साधना में मान्यता प्राप्त मंत्र-शक्ति का प्रभाव सन्तों के नाम-सिद्धान्त पर नहीं माना जा सकता। उनका नाम-सिमरन प्रधान है अथवा नाम सिमरन ही उनके विचार में भक्ति है। नाथमत में भक्ति के लिए स्थान ही नहीं क्योंकि तदनुसार कुण्डलिनी को जागृत कर शरीर के भीतर ही परमात्म-साक्षात्कार किया जाता

है और हठ साधना पर अधिक बल दिया गया है।

तन्त्र-साहित्य में बिन्दु और नाद को शिव और शक्ति का प्रतीक माना गया है। तान्त्रिकों की मान्यता है कि बिन्दु की सत्ता नाद के विस्तार का हेतु है। बिन्दु-सत्ता ही नाद-विस्तार का कारण इसलिए है क्योंकि बिन्दु नाद की मूल प्रकृति है। नाद उसी की अभिव्यक्ति का अभिधान या अभिव्यक्त स्वरूप है। अक्षर-ध्वनियाँ वर्णों एवं अक्षरों की पूर्ण प्रतिमाएँ अथवा प्रतिमा की प्रतीक मानी गई हैं। तान्त्रिकों का बीज-मन्त्र का सिद्धान्त संतों के नामसिमरन-सिद्धान्त के संकेत देता है। यद्यपि संतों ने बीज-मंत्र की शास्त्रीय व्याख्याएँ तान्त्रिकों की सी नहीं कीं तथापि धारणियों के रूप में बीज-मंत्र की साधना की परम्परा, नामसिमरन-साधना के रूप में संतों द्वारा सहजीकरण के रूप में स्वीकार कर ली गई है। उन्होंने मंत्रसंबंधी तान्त्रिक-साधना के अपने सिद्धांत के विपरीत पढ़ने वाले पक्षों का परित्याग कर नाम और नामी के अभेदसिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। निर्गुण-संत, तान्त्रिकों के उस सिद्धांत को भी नहीं मानते, जिसमें प्रत्येक इष्ट देवता को परम सत्य (ब्रह्म) का प्रतीक माना जाता है।

संतसाधना में नामसिमरन में मंत्रजाप की साधना का अधिक महत्व है। उन्होंने अजपाजाप की अवस्था को सिद्धावस्था माना है। ऐसी अवस्था में साधक के लिए मन की एकाग्रता की प्राप्ति के लिए यत्नपूर्वक नामसिमरन की साधना की आवश्यकता ही नहीं रहती। सोऽहम् रूप में स्वयंमेव श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक प्रक्रिया में एक लिव रूप में प्रभु-नाम-स्मरण के योग की साधना होती रहती है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि परवर्ती उपनिषदों, अध्यात्मग्रन्थों—अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता एवं योगवाशिष्ठ द्वारा प्रतिपादित नाम-सिद्धांत का संतमत पर सीधा प्रभाव है। नाम-सिमरन निर्गुण संतों का सर्वस्व है।

———

चौथा अध्याय

गुरु-साधना सम्बन्धी विचार

गुरु-साधना का महत्त्व

निर्गुणसंतों ने ब्रह्म को निर्गुण माना है। ईश्वर के रूपमें वह विश्व की आत्मा कहलाता है। तदनुसार आत्मा ने ही शरीरी हो कर जीव का अभिधान धारण किया हुआ है। परब्रह्म पुरुष एवं प्रकृति के रूप में सारे ब्रह्माण्ड में अपने आप को परिव्याप्त किए हुए है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध में 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है' के सिद्धान्त की चर्चा की जाती है। संतज्ञानेश्वर की भाँति सभी संत 'निर्गुणब्रह्म' की उपासना को सम्भव मानते हैं। शंकराचार्य ने भी तरंग और तारंग रूप में जीव और ब्रह्म की चर्चा करते हुए जीव की लघुता को स्वीकार किया है। उनके विचार में तरंग एवं समुद्र में अभेद होते हुए भी तरंग समुद्र की है समुद्र तरंग का नहीं है। जीव अविद्या के कारण इस अभेद को भूल कर अपने आप को नाम और रूप की सीमाओं में बद्ध मानने लगता है। यही कारण है कि रूप के प्रपंच को सत्य मान कर जीव को आवागमन के चक्कर में भटकना पड़ता है। इस संसार के सभी आसक्तिपूर्ण आकर्षण ही किसी समय उसे वैराग्य की ओर ले जाते हैं और वह भगवान् से एकमेक हो जाने के लिए प्रेरित हो उठता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति उसे गुरु के उपदेश द्वारा होती है।

भक्त या साधक के हृदय में प्रेम की चिनगी प्रज्वलित करने वाला गुरु है। संतों की साधना बाह्यसाधना न कहला कर अन्तःसाधना है। वे वैधी-साधना या वैधी-भक्ति में विश्वास नहीं रखते। उन का योग भी सहजोग है। और भक्ति वैधीभक्ति नहीं है। उन की साधना को उलटी साधना कहा गया है और वे यह मानते हैं कि जिस क्रम से परब्रह्म से शब्दब्रह्म और शब्दब्रह्म से अव्यक्त एवं व्यक्त प्रकृति का विकास होता है, उसी क्रम को उलट देने से प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है। नाम और रूप की आसाक्तियां एवं मन के संकल्प एवं विकल्पों के कारण जीव अपने आप को वासनाओं का भोक्ता समझता है। वैराग्य हो जाने पर वह नाम और रूप की आसक्तियों से ऊपर उठ कर 'उलटी साधना' द्वारा अपने स्रोत में एकमेक हो जाता है। इस प्रकार वह जागृतावस्था से यात्रा आरम्भ कर तुरीयावस्था की दशा या स्थिति को प्राप्त करता है। जीव को इस अवस्था का अधिकारी बनाने वाले उसके अपने प्रयत्न तो हैं ही परन्तु अपने साध्य को पाने के लिए गुरु के पथ प्रदर्शन एवं कृपा

या प्रसाद की आवश्यकता भी अनिवार्य है। उसे गुरु की कृपा का अधिकारी बनने के लिए गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना की शरण लेनी पड़ती है। गुरु की साधना का यही महत्त्व है।

निर्गुणसंत गुरु और गोविन्द में परस्पर किसी प्रकार का भेद नहीं मानते।[62]

गुरु और गोविन्द एक है

गुरु के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति की भावना की पराकाष्ठा के भाव को अभिव्यक्ति देते समय गुरु को गोविन्द की अपेक्षा बड़ा मान लिया गया है।[63] कबीर गुरु को भृंगी की उपमा देते हैं। उन के विचार में गुरु में वह शक्ति है जिस से वह शिष्य को अपना स्वरूप प्रदान कर सकता है। भृंगकीट में अपने सम्पर्क में आने वाले किसी भी कीट की आत्मरूप बना लेने की गुण एवं शक्ति विद्यमान है। जिस प्रकार नदी नाले गंगा में मिल कर गंगा ही का रूप हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार सद्गुरु अधिकारी शिष्य को अपने भीतर एकमेक कर लेता है। शिष्य का व्यक्तित्व अपने गुरु के व्यक्तित्व में विगलित हो कर तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार शिष्य गुरु की कृपा से राम के रंग में रंग जोता है। दादू ने अपनी 'बानी' के प्रत्येक अंग में गुरु को नमस्कार करते हुए उसकी कृपा की बार-बार याचना की है। साधक गुरु कृपा द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है तथा द्वन्द्वातीत हो जाने की स्थिति का अधिकार प्राप्त कर लेता है।[64] गुरु नानक ने 'गुरुशब्द' को नाद एवं वेद बतलाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुरु की वाणी में परमात्मा का निवास है। गुरु ही शिव, विष्णु और ब्रह्मा है। वही पार्वती (शक्ति) भी है। उन का कहना है कि गुरु की महिमा का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।[65]

त्रिगुण संतों ने अध्यात्मविद्या या पराभक्ति को संजीवनी बूटी बतलाया है। वे

गुरु शिष्य को भक्ति की संजीवनी प्रदान करता

यह मानते हैं कि उन्हें यह 'मूरि' गुरु की कृपा से प्राप्त हुई है। इस संजीवनी बूटी में भक्ति का रस है, जिस के मात्र सूंघने से ही काम एवं क्रोध आदि पांचों विषैले सर्प, और पच्चीस तत्त्वों की सर्पिणियां, मर जाती हैं। सारी सृष्टि को लील जाने वाली माया-डाइन उसे देखते ही भयभीत हो जाती है। कबीर का कहना है कि उनका हृदयघट पूर्णरूपेण निर्मल हो गया है एवं उनकी सम्पूर्ण व्याधियां पूर्णतया दूर हो गई हैं।[66] गुरु नानक का विश्वास है कि गुरमुख से प्राप्त किया हुआ हरिनाम साधक के चारों तापों को नष्ट कर देता है और शिष्य को अमृत की प्राप्ति होती है। सत्य (ब्रह्म) की दरगाह में जीव को गुरुरूपी सच्चा हितू ही पहुंचाता है।[67] परमात्मा का शुद्धज्ञान तथा इसी जन्म या शरीर में परमतत्त्व की प्राप्ति गुरु की कृपा से प्राप्त होती है।[68] वह यह भी मानते हैं कि गुरु की सहायता के बिना भवसागर से पार उतरना सम्भव नहीं है। जीव के लिए चारों ओर केवल अन्धेरा ही अन्धेरा है। उसे 'शबद' की सूझ कदापि नहीं मिल सकती। गुरु द्वारा निर्मल की हुई बुद्धि ही ज्ञान के प्रकाश की उपलब्धि का अधिकारी बनाती है।[70] गुरु दाता है, जब कि बाकी का सारा संसार उसका याचक है। मुक्ति की प्राप्ति के

लिए अपराधी जीव ही तीर्थों पर भटकते हैं। वे यह नहीं जानते कि मात्र शरीर के प्रक्षालन से मुक्ति कहाँ ? जब कि देह में काम एवं क्रोध आदि विकार भरे पड़े हैं। ऐसे जीवों की दशा पानी में उस नौका जैसी है जो जल में रहते हुए भी उस में डूबती नहीं है। जीव का डूबना परमात्मा रूपी गुरु के उपदेश में अपने आप को विलीन कर देना है। ऐसा लगता है मानों उनकी जीवन-नौका में मनों लोहा भरा पड़ा है। इस का कारण यह हैं कि अज्ञानी जीव 'गुरु शबद' के रहस्य का ज्ञान प्राप्त किए बिना मँझधार में भटक रहे हैं।[79]

गुरु ही सच्ची शरण है

सन्तों ने गुरु को सच्चा साहूकार बतलाया है। वे स्वयं उस साहूकार के सौदागर हैं। कहा गया है कि साधक रूपी शिष्य सद्गुरु के साह और संत रूपी सौदागर के पास जाता है। वह गुरु के सम्मुख मनरूपी मोहरें अर्पित करता है और बदले में ज्ञान का घोड़ा खरीदता है। तदनन्तर ज्ञानरूपी अश्व पर साधना की पलान डालता है तथा चित्त को चाबुक बनाता है। उसे 'लिव' की लगाम पहना कर शरीर के तरकस को विवेक और विचार से समर्थ बनाता है। लक्ष्य की सिद्धि के हेतु सुरति की कमान चढ़ाता है और शूरवीर का उपर्युक्त पूरा बाना पहन कर माया के दुर्ग को गिरा देता है। तदनन्तर मोह के राजा को बन्दी बना कर उसे काम, क्रोध आदि रिपु रूपी साथियों के सहित रौंदता हुआ अनहदनाद का जयघोष करता है। जीव यह तभी सम्भव कर दिखलाता है जब उसे गुरु की शरण प्राप्त हो जाती है।[72]

गुरु नानक ने गुरु की सेवा करने वाली मुंध (मुग्धा—जीव रूप स्त्री) ही को केवल बुद्धिमती नारी माना है। साथ ही यह भी कहा है कि वह गुरु की सहायता से ही प्रभुप्रियतम को प्राप्त कर सकती है।

गुरु साधना में ही सम्पूर्ण सिद्धियां निहित हैं

निर्गुण संतों ने इस पक्ष का भी समर्थन किया है कि साधक को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति का अधिकार गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।[79] यहां तक कि उसे धर्म और धैर्य की प्राप्ति भी गुरु के उपदेश ही से प्राप्त होती है। शिष्य के अहंकार (हउमे) का विनाश भी गुरु की शरण में जाने पर ही सम्भव है।[80] जिस प्रकार गांठ में धन न होने पर कोई भी व्यक्ति कोई वस्तु खरीद नहीं सकता और जहाज पर चढ़े बिना सागर को पार करना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार गुरु की सहायता एवं कृपा के अभाव में साधक को साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु की सेवा में ही सम्पूर्ण सिद्धियाँ समाहित हैं। जो गुरु की कृपा का पात्र नहीं बन सकता उसके लिए हानि ही हानि है।[81] जो शिष्य गुरु से विमुख है, वह प्रभु द्वारा उसी तरह त्याग दिया जाता है, जिस तरह झूठे तिल खेत में ही छोड़ दिए जाते हैं।[82] जिस किसी को हरि की प्राप्ति हुई है वह गुरु की कृपा के कारण ही।[83] क्योंकि भक्ति का अमृत गुरु की कृपा ही से प्राप्त होता है।[84] गुरु और गोविन्द के एक साथ मिल जाने पर संतों ने पहले गुरु को प्रणाम करने की जो बात कही है, उस का आशय यही है कि यदि गुरु की कृपा

होगी तो परमात्मा स्वयमेव मिल जाएंगे।[85] भक्त परमात्मा के दर्शन गुरु के 'शब्द' के दर्पण में ही कर सकता है।[86] गुरु ही भक्त को मनुष्य से देवता बनाता है।[87]

गुरु और गोविन्द को दूध और पानी की भाँति अभिन्न बतलाया है। भक्ति की प्राप्ति में गुरु मध्यस्थ का कार्य करता है। वही शिष्य को प्रभु की भक्ति की प्राप्ति के साधन या उपाय बतलाता है। साधक प्रेम के पासे को शरीर की सारी पर खेलता है और गुरु की कृपा से इस क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है।[88]

गुरु-साधना द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति

कहते हैं एक बार दादू को मार्ग में गुरु मिल गए। उन्हें इस बात का पता था कि ईश्वर की कृपा से गुरु की प्राप्ति होती है। उन्हें इस तथ्य का ज्ञान भी था कि जिसके अहंकार के मस्तक पर गुरु की कृपा का वरद हाथ पड़ते ही गुरुदीक्षा का अप्राप्य उपदेश मिल गया,[89] वही धनी बन जाता है।[92] उन्हें यह भी मालूम था कि आत्मज्ञान के रहस्य की कुँजी गुरु की कृपा से ही प्राप्त होती है। गुरु ही शिष्य के हृदय के कपाट खोलता है।[91] गुरु की कृपा से ही ज्ञान के उपदेश का अंजन प्राप्त होता है। बहरे कानों से सुनने लगते हैं और गूँगे बोलना शुरु कर देते हैं। गुरु द्वारा प्राप्त हुए अंजन की यही विशेषता है। वह गुरु ही है जो अपने शिष्य को ज्ञान की नौका पर सवार कर भवसागर के तट के पार पहुँचा देता है।[03] वही अपने शिष्य को पशु से मनुष्य और मनुष्य से देवता बनाता है। उसे देवता बना कर पुनः (निरंजन मायातीत शुद्धात्मस्वरूप) भी वही बनाता है।[04] ऐसा शिष्य या साधक बाहर से देखने में पूरे तौर पर सांसारिक दिखलाई देता है परन्तु गुरु के 'शब्द' से घायल होते ही उस की मानसिक कल्पनाओं के अंग-अंग चूर हो जाते हैं।[95]

संतों का यह भी विश्वास है कि गुरु शिष्य को शबद रूपी दूध से आत्मज्ञान एवं आत्मानन्द के घृत को निकालने की युक्ति बतलाता है।[96] जिस प्रकार दूध में घी रमा रहता है उसी तरह गुरु के उपदेश में परमार्थ का तत्त्व समाया रहता है।[97] साधक शरीरस्थ परमात्मा के दर्शन गुरु की कृपा द्वारा प्राप्त करता है।[98] जिस प्रकार आँखें अपनी पुत्तलियों को नहीं देख पातीं उसी प्रकार शरीरधारी जीव भी गुरु द्वारा बतलाए गए मार्ग के अभाव में शरीरस्थ परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता। इसी बाधा का निवारण करने के लिए गुरु, शिष्य को अध्यात्म के ज्ञान का दर्पण प्रदान करता है और शिष्य उस दर्पण में आत्मसाक्षात्कार करता है।[99] दादू ने गुरु के महत्त्व की अनेक प्रकार से चर्चा करते हुए सन्तसम्प्रदाय में स्वीकृति गुरु के महत्त्व का गुणगान किया है।

संतों का कहना है कि अन्तःकरण की चार प्रकार की वृत्तियों के कारण ही जीव का चंचल मन गुरु द्वारा दिए गए उपदेशों से स्थिरता प्राप्त करता है।[100] गुरु का सच्चा शिष्य मन का कहना कदापि नहीं मानता।[101] वह शरीर के अभिमान का परित्याग कर ईश्वर की सत्ता को सर्वोपरि शक्ति मानता है और यह स्वीकार करता है कि इस स्थूलशरीर में चेतनामय के चैतन्य का संचार है। गुरु की

भक्ति में दृढ़ विश्वास वाला शिष्य अविद्या को अपने मन से हटा कर चैतन्य की अनुभूति का अनवरत आनन्द उठाता है। उस के लिए यही गुरु की आज्ञा है।[102] कबीर का कहना है कि सभी प्रकार के बाह्याडम्बर प्रधान कर्मकाण्ड मात्र आडम्बर हैं और सच्चा मार्ग गुरु का बतलाया हुआ मार्ग है।[103] दादू की यह दृढ़ आस्था है कि उन्होंने गुरु के उपदेश को साक्षात् अनुभव के माध्यम से प्रत्यक्ष किया है। उनके द्वैत के सभी हेतु मिट गए हैं और उनका व्यष्टिचैतन्य समष्टिचैतन्य में समा गया है। अर्थात् उन के अहंभाव का पूर्ण विलय हो गया है। संत-सम्प्रदाय के विचार में सम्पूर्ण अध्यात्मज्ञान गुरु की कृपा का मीठा फल है।

गुरु ही सगासम्बन्धी है

निर्गुण संतों ने गुरु को सगा और सच्चा सम्बन्धी माना है।[105] उनका विश्वास है कि जिस घर में सद्गुरु का निवास नहीं है, उस घर में अनन्त प्रकाश के होते हुए भी सर्वत्र अन्धेरा ही अन्धेरा है।[106] गुरु ही मात्र सच्चा रिश्ता है जब कि अन्य सभी सम्बन्धी स्वार्थ के रिश्ते हैं। जिस किसी क्षण गुरु के 'शब्द' का बाण लगता है, तत्काल ही बाहरी आकर्षणों की ओर भटकने वाला साधक अन्तर्मुखी बन जाता है।[107] सद्गुरु अपने शिष्य को मनुष्य से देवता बना कर अपना सगा बना लेता है।[108] संतों के विचार में गुरु की शरण' ही सब से निराली और सच्ची शरण है। इस शरण को हर स्थिति में अपनाए रखने के लिए जीव को बार-बार सावधान किया गया है।

सच्चे गुरु के अभाव में सर्वत्र अन्धकार

निर्गुण संत गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान को ही सच्चा और यथार्थ ज्ञान मानते हैं। उनके विचार में गुरु के ज्ञान के बिना कहीं भी प्रकाश नहीं है, अर्थात् समूचा भेख मात्र मांगने ही के लिए है।[109] इस जीवन की शतरंज में लक्ष्य की सिद्धि गुरु की कृपा द्वारा ही प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार के कार्यों में निपुणता वास्तविक ध्येय की उपलब्धि में जीव की सहायता नहीं कर सकती। प्रेम का पांसा हाथ ही में रह जाता है जब तक गुरु दाँव न बतलाए, अतः शिष्य को कदापि अपने लक्ष्य में सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती।[110] गुरु सिकलीगर है जो ज्ञान का मसकला देकर साधक के चित्त को दर्पण की भाँति शुद्ध एवं निर्मल बना देता है। मन ज्योतिर्मन बन कर, अपने स्वरूप के प्रकाश में चमकने लगता है।[111] इसलिए शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के प्रति अटूट विश्वास की भावना को हमेशा के लिए बनाए रहे। प्रभु-ठाकुर की भक्ति गुरु की कृपा से ही सम्भव हो सकती है।[112] गुरु सच्चा योगी है क्योंकि उसकी समाधि दशमद्वार में परमात्मा के सान्निध्य से लगी रहती है[113] नाम के दान की भीख शिष्य को गुरुद्वारा ही प्राप्त होती है।[114]

सन्तों ने मन को आसक्तियों का रोगी कहा है। यदि कभी कहीं गुरु की कृपा हो जाए तो वह शिष्य के चंचल मन के रोगों को दूर कर देता है। वही शिष्य के लिए मुक्ति के बन्द द्वार खोलता है।[115] गुरु ही सच्चा सहायक है क्योंकि वही शिष्य को राम के नाम से एकमेक करता है।[116] सत्यतत्त्व की प्राप्ति गुरु की कृपा का मीठा फल है।[117] शिष्य के अज्ञान के वज्रकपाट उसी के प्रसन्न होने पर खुलते हैं।[118] गुरु की मेहर हो

जाने पर भक्त भक्ति के धन से धनी कहलाता है।[119] संसार के सागर के तूफान में भटकते हुए जीव की रक्षा करने वाला गुरु है।[120] उसे ही सच्चा तीर्थ मान कर संतों ने अन्य तीर्थों पर जाने से होने वाले लाभ के प्रति आशंका प्रकट की है।[121]

संतसाहित्य-वर्णित गुरु साधना की पृष्ठभूमि

गुरु की आवश्यकता

'अद्वयतारकोपनिषद्' में 'गुरु' शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए 'गु' का अर्थ अन्धेरा और 'रु' का अर्थ दूर करने वाला बतलाया गया है। प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार गुरु वह है, जो शिष्य के अज्ञान के अन्धकार को दूर करता है।[1] गुरु का ध्येय शिष्य के प्रत्येक प्रकार के अज्ञान को दूर कर, उसका वास्तविक स्वरूप बतलाना है। संतों की साधना, अध्यात्म-साधना होने के कारण उसमें गुरु का अर्थ 'अध्यात्म-गुरु' ही अभीष्ट प्रतीत होता है। पिछले प्रकरण में संतों द्वारा प्रतिपादित 'गुरु की साधना' का विवेचन करते समय बतला आए हैं कि उनकी साधना 'उलटी साधना' है। इसे परमात्मभाव की ओर जीव की आरोहणयात्रा भी कह सकते हैं। वह ज्ञान, भक्ति एवं योग आदि साधनाओं के उपायों में से किसी एक मार्ग को स्वीकार कर दूसरे उपायों को सहायक उपायों की कोटि में रखकर, परमात्मभाव की प्राप्ति का अधिकारी बनने का प्रयत्न करता है। क्योंकि उस की यात्रा अध्यात्म की यात्रा कहलाती है, अतः उसे अपने साध्य की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में जाना पड़ता है।

अध्यात्मवेत्ताओं के अनुभवों को बतलाने वाले धार्मिक ग्रन्थों को गुरु के 'शब्द' के अवतार मानने के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि अध्यात्म-ज्ञान की उपलब्धि में अध्यात्मविद्या के ग्रन्थों का स्वाध्याय आवश्यक समझा जाता है। इसीलिए जीवित अर्थात् शरीरी गुरु का महत्त्व विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। गुरु को साक्षात् भगवान् कहा है। सद्गुरु के आत्मानुभव, व्यक्तित्व एवं चरित्र, सभी एक साथ मिलकर शिष्य की सहायता करते हैं। शिष्य हर समय गुरु से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकता है। वह जिस साध्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, गुरु द्वारा वह ध्येय पहले से ही प्राप्त किया जा चुका होता है। इसलिए वह साधनामार्ग में शिष्य की अपने अनुभवों द्वारा स्थान-स्थान पर सहायता करता है। अध्यात्म के क्षेत्र में 'गुरु' की इसी कारण अनिवार्य आवश्यकता है। वह अन्य क्षेत्रों की भाँति अपने शिष्य के शिशु-ज्ञान को प्रौढ़-ज्ञान में परिवर्तित करने की कृपा करता है। उसे शिष्य के लिए पृथ्वीलोक में निवास कर रहा परमात्मा कहा गया है,जो अबोध बालक की भाँति शिष्य की बाँह पकड़ कर उसे भवसागर के पार ले जाता है।[2]

वैदिकयुग में गुरु साधना

वैदिक कर्मकाण्ड में यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले का 'पुरोहित' कहा गया है। उस युग का पुरोहित ही गुरु है। इस रीति से वैदिक युग में पुरोहित के रूप में गुरु के महत्त्व की स्वीकृति के उदाहरण हमें मिलते हैं। पुरोहित या ब्रह्मणों को

शायद इसी कारण भूलोक के देवता कहा जाता रहा है। जैसे-जैसे युग की परिस्थितियां बदलती रहीं, पुरोहित या गुरु का महत्त्व तदनुकूल ही परिवर्तित रूप धारण करता रहा है। गुरु के इस इतिहास की परम्परा पौराणिक-काल के बाद तेरहवीं शताब्दी तक एवं उसके बाद भी समान भाव से वैसी ही बनी रही है। निर्गुणसंतों द्वारा दिए गए 'गुरुमहिमा' तथा 'साधु को अंग' में सद्गुरु की स्तुतियां एवं वदनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि पण्डितों और मुल्लाओं के पाखण्ड का खण्डन करते हुए भी उन्होंने गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है। वे अध्यात्मगुरु की अनिवार्य आवश्यकता का सदैव अनुभव करते हैं। वैदिककाल और उसके बाद उपनिषत्काल में श्रद्धा का जो भाव यज्ञों का सम्पादन करने वाले पुरोहितों एवं 'पराविद्या' के उपदेशक गुरुओं के प्रति था, वह निर्गुणसंतों के युग पर्यन्त तद्वत् एवं अक्षुण्णभाव से वैसा ही बना रहा। अन्तर केवल यह आया कि वैदिक युग का पुरोहित केवल यजमान के यज्ञ आदि के अनुष्ठान में ही सहायता करता था परन्तु मध्यकलीन संतो की परम्परा में वह गुरुभक्ति का पात्र भी है।

उपनिषत्काल में गुरु का महत्त्व

'गुरु' शब्द के अर्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन क्यों न किया जाए वह समानभाव से समाज, धर्म एवं अध्यात्म के मार्ग का नियामक और पथ-प्रदर्थक माना जाता है। राजनीति के इतिहासों में भी राजनीति के पारंगत व्यक्ति को गुरु कहा गया है तथा ऐसे राजनैतिक गुरुओं के सम्बन्ध में अनेक कथाएं भी प्रचलित हैं। धर्मगुरुओं से सम्बन्धित कथाएँ भारतीय धार्मिक साहित्य में भरी पड़ी हैं। उपनिषदों की रचनाशैली संवादात्मक तथा उपदेशात्मक है। यह वह युग था जब शिष्य-वर्ग तपोवनों में रहने माले गुरुओं की शरण में जाया करता था और शिष्य अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करते थे। गुरुओं द्वारा शिष्यों को दिए उपदेशों से उपनिषत्साहित्य भरा पड़ा है। असलीयत तो यह है कि सारा उपनिषत्साहित्य गुरुओं और शिष्यों के बीच के अध्यात्मसम्बन्धी संवादों से परिपूर्ण है। इस युग के प्रधान अध्यात्मगुरुओं के नाम इस प्रकार हैं :—इन्द्र, शौनक, नचिकेता, नारद, सत्यकाम, श्वेतकेतु, जनक, याज्ञवल्क्य और अजातशत्रु आदि।

'माण्डूक्योपनिषद्' में शिष्य द्वारा गुरु की शरण में जाने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि शिष्य नित्यतत्त्व का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथों में समिधा लेकर श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाता था[3]। अर्जुन कृष्ण के सखा थे परन्तु उन्होंने अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के समय शिष्यभाव से ही उन से उपदेश ग्रहण किया था[4]। इस प्रकार गीता में गुरु के महत्त्व और गौरव के बार-बार उल्लेख हुए हैं तथा शिष्य को तत्त्ववेत्ता ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करने का परामर्श दिया है। शिष्य से यह कहा गया है कि वह निष्कपटभाव से गुरु की शरण में जाए। गुरु की सेवा के भाव को आवश्यक एवं दण्डवत् प्रणाम आदि को विनम्रता का चिह्न माना गया है[5]। इस तरह किसी भी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय अपने 'अहम्' का परित्याग है। प्रणाम एवं सेवाभाव का आशय यही है। यद्यपि पाखण्डी गुरुओं तथा दण्डवत् प्रणाम आदि की व्यर्थता भी प्रकट की गई है।

उपनिषदों में बतलाया गया है कि विषयों के प्रति इन्द्रियों की आसक्तियों का परित्याग करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी तरह सत्य की पहचान को भी दुष्कर कार्य बतलाया गया है। सहजावस्था की प्राप्ति आसान कार्य नहीं है। अतः अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की कृपा की अनिवार्य आवश्यकता स्वाभाविक है[6]। ब्रह्मात्मैक्यानुभूति को तर्क के बल-बूते से प्राप्त नहीं किया जा सकता और न ही उसे विद्वत्ता एवं शास्त्रीय-ज्ञान की शक्ति के भरोसे से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण यह मान लिया गया है कि उसे वही प्राप्त कर सकता है, जिस पर परमात्मा की कृपा हो और प्रभु-कृपा का वरदान गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। वहीं पर निर्विवाद भाव से यह भी स्वीकार किया जाता है कि परमात्मा का ज्ञान अध्यात्म-गुरु की शरण में जाने एवं उसकी कृपादृष्टि ही से सम्भव है[8]। वही शिष्य अध्यात्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर सकता है जो परमात्मा और अध्यात्म विद्या के गुरु दोनों के प्रति समान रूप से भक्ति और श्रद्धा रखता है। गुरु शिष्य के हृदय के क्षेत्र में अध्यात्मज्ञान का बिरवा रोपने के लिए स्वयं भूमि को खोदता एवं भक्ति का कोमल बिरवा रोपता है। तदनन्तर वह स्वयं बाड़ (fense) का रूप धारण कर उसकी रक्षा भी करता है। गुरु शिष्य की देखभाल उस समय तक करता रहता है जब तक वह स्वयं इस योग्य नहीं हो जाता कि बतलाए हुए पथ पर वह स्वयं अग्रसर हो सके। जब तक बाधकतत्त्वों का तूफ़ान सहने की शक्ति शिष्य में नहीं आती, गुरु उस की सहायता करता रहता है। गुरु परमात्मा का अवतार है और परमात्मा का साक्षात्कार करने से पहले की अवस्था तक वही शिष्य द्वारा पूजा करने योग्य परमात्मा की प्रतिमा है[9]।

बौद्धधर्म में गुरु का महत्त्व

महात्मा बुद्ध ने चार आर्य-सत्यों के ज्ञान एवं उनके वास्तविक स्वरूप के परिचय के लिए साधक के अपने प्रयत्नों को प्रधान एवं प्रभावशाली साधन बतलाया है। बार-बार इस पक्ष पर विशेष रूप से बल दिया गया है कि साधक को चाहिए कि वह अपने आप प्रयत्न करता हुआ निर्वाण के पथ की ओर उन्मुख एवं अग्रसर होता रहे। बौद्धधर्म के तीन महावाक्यों, 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघंशरणं गच्छामि' में धर्म और संघ की शरण में जाने से पहले बुद्ध की शरण में जाने का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट हो जाता हैं कि शिष्य का प्रयत्न, गुरु की शरण, मार्ग-निर्देशन और कृपाभाव की अपेक्षा रखता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अध्यात्म गुरु की शरण प्राप्त किए बिना शिष्य को साधना के मार्ग में सफलता नहीं मिल सकती। साधना, कर्म की हो, भक्ति अथवा ज्ञान की हो या योग की, प्रत्येक स्थिति में पथ के प्रदर्शन की आवश्यकता बनी रहती है।

महायान में बोधिसत्त्वों के रूप में गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है[10]। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं पूर्ण सत्य का उद्घाटन करते हैं। वह लिखते हैं, "तन्त्रसाधना में गुरु को शिव का स्थान दिया गया है। सहजिया मत के जो बौद्ध दोहे और बौद्ध गान पाए जाते हैं, उनमें गुरु की भक्ति

के बहुत उपदेश हैं। कबीर ने भी एक दोहे में कहा है कि गुरु सिद्ध से भी बड़े हैं। गुरु की भक्ति बिना विचारे ही करनी चाहिए[11]। कबीर गुरु और गोविन्द को एक मानते हैं।

योगवाशिष्ठ-वर्णित गुरु सम्बन्धी विचार

योगवाशिष्ठ में सत्कर्म में प्रवृत्ति एवं आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए तीन प्रधान साधन बतलाए गए हैं। पहला साधन है गुरु का उपदेश अर्थात् 'गुरु शब्द'। दूसरा साधन अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन एवं उनके प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में चिन्तन एवं मनन का अभ्यास है। तीसरा साधन शिष्य का जिज्ञासा का भाव माना गया है[12]। सद्गुरु की प्रीति की प्राप्ति सुगम उपलब्धि नहीं अतः उसे अत्यन्त कठिन एवं सौभाग्य का चिह्न बतलाया जाता है[13]। योगवाशिष्ठकार ने शिष्य में अहं के परित्याग तथा पूर्ण जिज्ञासा के भाव से यह ध्वनित किया है कि गुरु के प्रति शिष्य के हृदय में भक्ति एवं श्रद्धा का दृढ़भाव रहना चाहिए[14]। योगवाशिष्ठ ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की कृति है जिन्हें राम के गुरु बतलाया जाता है। प्रस्तुत कृति उनकी रचना ही न हो अथवा वह स्वयं भी ऐतिहासिक व्यक्ति न हों, इससे हमारे वक्तव्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु इतना स्पष्ट है कि इस रचना में राम के माध्यम से शिष्य को अध्यात्मविद्या का उपदेश दिया गया है। राम मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् हैं अतः यदि उन्हें भी अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, तब यह स्पष्ट है कि अध्यात्म के पथ पर गुरु द्वारा पथनिर्देशन के अभाव में चलना असम्भव है।

तन्त्रसाधना में गुरु का महत्त्व

आचार्य हजारी प्रसाद की रचना 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के उद्धरण का हवाला देते हुए पीछे यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि नाथपन्थियों, योगियों, सहजयानियों, वज्रयानियों, तान्त्रिकों और उनके परवर्ती सन्तों ने सद्गुरु की महिमा का गान किया है[15]। तान्त्रिकसाधना पूर्णरूपेण आन्तरिक साधना है। इस में 'जो शरीर में है वही ब्राह्माण्ड में या जो ब्राह्माण्ड में है वही पिण्ड में' के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया जाता है। तान्त्रिक ग्रंथों मे स्थल-स्थल पर गुरु की महिमा के वर्णन मिलते हैं।

गुरु के महत्त्व की चर्चा करते हुए 'मुण्डनमालातन्त्र' में कहा गया है कि मंत्र की उत्पत्ति गुरु से और देवता की उत्पत्ति मंत्र से हुई है। अतः गुरु को इष्टदेवता का पिता कहा है। गुरु की सेवा से मंत्र और मंत्र की सेवा से देवता प्रसन्न होते हैं[16]। 'योगिनी-तन्त्र' के अनुसार दीक्षागुरु को महाकाल तथा आदिनाथ माना है। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, ऐन्दव, महाशैव एवं सौर आदि सभी आदिनाथ एवं उपदेशक कहे गए हैं। मंत्र की दीक्षा के लिए महाकाल मानव का रूप धारण किए हुए हैं, ऐसा माना जाता है। तदनुसार इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि गुरु परमात्मा का प्रतिनिधि है[17]। गुरुओं के पंचभूतनिर्मित शरीर यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं परन्तु उन्हें ब्रह्म के विभिन्न रूप

स्वीकार किया जाता है। सिद्ध गुरु तो स्वयंमेव ब्रह्मरूप है। सिद्धि की प्राप्ति के बाद गुरु और शिष्य का द्वैत भी मिट जाता है[18]। 'कुलार्णवतन्त्र' में कहा है कि 'हे देवि, शिव मेरा स्थूल रूप हैं परन्तु भूलोक का मानव उसे भी नहीं देख सकता। इस कारण मैं शिष्यों के कल्याण के लिए मानव गुरु का रूप धारण करता हूँ। गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। वह इन्द्रियातीत है। अज्ञानी जीव ब्रह्म के इस स्वरूप को उसके वास्तविक रूप में भलीभाँति पहचान नहीं पाते, जिस प्रकार अन्धे जीव सूर्य को नहीं देख सकते।

'गुरुतंत्र' का मत है कि शिष्य पूर्वजन्मों के पुण्यकर्मों के प्रताप के कारण ही गुरु का ध्यान करता है एवं भक्तिभाव से स्तोत्रों के रूप में उसकी स्तुति करता है[19]। 'रुद्रयामल तंत्र' के अनुसार गुरु की भक्ति करने वाला शिष्य इन्द्र की पदवी प्राप्त करने का अधिकारी बतलाया गया है। वहीं पर यह भी कहा गया है कि यदि साधक गुरु की उपेक्षा कर परमात्मा का भी ध्यान करे तो वह बतख की ही योनि प्राप्त करता है[20]। इसी प्रकार 'योगिनीतंत्र' में गुरु के गौरव एवं महत्त्व की चर्चा करते हुए गुरु के घर को कैलाश, उसके रहने और बैठने के स्थान को चिन्तामणि, घर के आँगन के वृक्ष को कल्पवृक्ष, लताओं को कल्पलताएँ, पानी को गंगोदक, स्त्रीसेविकाओं को भैरवी और पुरुषसेवकों को भैरव माना गया है। गुरु के प्रति श्रद्धा और आस्था को अभिव्यक्ति प्रदान कर यह कहा है कि गुरु की प्रदक्षिणा करना ससागरान्त पृथ्वी की प्रदक्षिणा करना है[21]। 'गुप्तसाधना तंत्र' गुरु को त्रिदेव-तीर्थ, यज्ञ और दान आदि के अनुष्ठानों का फल मानता है और गुरु रूपी शिव का सहस्रारकमल में ध्यान लगाने का उपदेश देता है। 'पिच्छल तन्त्र' एवं 'कुलागम तंत्र' में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह गुरु की अनन्यशरण की छाया का कदापि परित्याग न करे[22]। 'विश्वसारतंत्र' में भी 'योगिनीतंत्र' के भाव को तनिक अन्तर सहित दुहराया गया है[23]। 'रुद्रयामलतंत्र' में पुस्तकों के अध्ययन को व्यर्थ सिद्ध कर गुरु की दी हुई दीक्षा द्वारा पाप के पुंज के विनाश को सम्भव बतलाया है। इसी तरह 'गुरुतंत्र' में भी गुरु के प्रसन्न होने पर शिव, विष्णु, ब्रह्मा, देवी, त्रिपुरासुन्दरी सभी के प्रसन्न रहने की चर्चा के उल्लेख हुए हैं[24]। 'कुलागम तंत्र' का यह विश्वास है कि केवल गुरु ही शिष्य को अध्यात्मविद्या की शिक्षा दे सकता है। 'महानिर्वाणतंत्र' में यह बतलाया गया है कि शाक्त, शैव, वैष्णव और गाणपत्य मंत्रों की शाक्त, शैव, वैष्णव और गाणपत्य गुरुओं से दीक्षा लेनी चाहिए और अंत में कौलाचार्य के महत्त्व का वर्णन करते हुए यह कहा है कि कौल गुरु को हर प्रकार के मंत्र की दीक्षा देने का अधिकार है क्योंकि वह सर्वोत्तम गुरु है[25]।

योग तथा ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी परवर्ती उपनिषदों में गुरु का महत्त्व

'अद्वयतारकोपनिषद' में गु' का अर्थ अन्धेरा और 'रु' का अर्थ उस अन्धेरे को दूर करने वाला किया गया है।[26] योग एवं ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी उपनिषदों में इस बात के बार-बार उल्लेख हुए हैं कि गुरु अज्ञान के अन्धेरे को दूर करता है। 'योगशिखोपनिषद्, में गुरु को तीनों लोकों से बड़ा बतलाया गया है। गुरु के महत्त्व की

और साधक-समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए यह कहा है कि गुरु और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है। इस लिए परमात्मा की अनन्यभक्ति की भाँति ही गुरु के प्रति अनन्यभक्ति का भाव बनाए रखने का परामर्श है। यह भी उपदेश दिया है कि शिष्य का कर्तव्य है कि वह परमात्मा आत्मा, और गुरु में हर प्रकार से अभेदबुद्धि को स्थिर बनाए रखे।[27] गुरु को साध्य और परब्रह्म माना है तथा उसे परमज्ञान और परमशरण कहा है।[28] 'ब्रह्मतत्त्वोपनिषद' का कहना है कि गुरु मानव के शरीर के रूप में परमात्मा है। इस लिए परमत्मा और गुरु को कदापि अलग-अलग नहीं समझना चाहिए।[29]

अध्यात्म-विद्या के जिज्ञासु को उपदेश देते हुइ 'विचारचूड़ामणि' में स्पष्ट संकेत हैं कि जिस किसी को आत्मा के ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना है, उसे अध्यात्म-विद्या द्वारा गुरु की शरण में जाना चाहिए।[30] गुरु पापविमुक्त विभूति है। वह ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मलीन, शांत, समुद्रसम धीर, निष्काम, दयालु एवं सत्पुरुषोंका मित्र है।[31] वह शिष्य की अनपायिनी भक्तिभावना से प्रसन्न होकर और उसके शुभकर्मो की परीक्षा लेकर उसे अध्यात्मविचार का अमृत प्रदान करता है।[32] अवधूतगीता में कहा है कि मूर्ख हो या विद्वान् लेकिन सत्य की प्राप्ति की जिज्ञासा के भाव से सम्पन्न शिष्य गुरु के उपदेश का मनन करता हुआ, भव के सागर से पार उतर जाता है।[33] परमात्मा स्वयं गुरु रूप में उपदेश देते हैं और साधक परमात्मा रूपी गुरु के उपदेश की कृपा से सत्य एवं प्रकाशस्वरूप हो कर मुक्ति के अधिकार को प्राप्त करता है।[34]

उपर्युक्त उपनिषदों एवं अन्य अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थों की भाँति ही 'तत्त्वोपदेशकार' का यह विश्वास है कि शिष्य को चाहिए कि वह अपने और गुरु के बीच अभेद की भावना से काम ले। वहीं पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'अभेदानुभूति' का अर्थ यह कदापि नहीं है कि शिष्य गुरु की बराबरी करे। तदनुसार तीनों लोक ब्रह्म के रूप हैं लेकिन गुरु के साथ बराबरी का भाव किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।[35]

वैष्णव ग्रंथोंमें गुरु-सम्बन्धी विचार

'नारदपंचरात्र' में भक्ति और ज्ञान की साधना के जिज्ञासु को यह परामर्श दिया गया है कि वह ज्ञान के सागर भगवान् शिव की शरण में जाए।[36] शिव ज्ञानियों के गुरु बतलाए गए हैं।[37] इस लिए समझदार साधक को चाहिए कि वह अपना गुरु भगवान् शंकर को बनाए।[38] पराभक्ति की प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है। उसे सांसरिक बन्धनों को काटने के लिए कुल्हाड़ा कहा गया है।[39] तदनुसार गुरुद्वारा प्राप्त हरि की पराभक्ति ही भवरोग के बन्धन के पाश को खण्डित कर सकती है।[40] इस लिए जो यह चाहता है कि वह भक्ति द्वारा परमात्मा को जाने, उसे चाहिए कि वह गुरु की शरण ग्रहण करे। अध्यात्मगुरु की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह काम एवं क्रोध आदि मानसिक शत्रुओं से पूर्णतया मुक्त होता है। वह सदैव कृष्ण की भक्ति में लीन रहता हैं; उसे वैदिकशास्त्रों एवं आगमविद्या का सच्चा पारखी

कहा है।[41] हरि की भक्ति प्रदान करने की पूर्ण सामर्थ्य गुरु में है।[42] गुरु शिष्य के लिए सभी कुछ है, वही उस का पिता और उस की माँ है और जीव रूपी स्त्री का पति भी वही है।[43] गुरु से शिष्य को वह सभी कुछ प्राप्त होता है जो उसे अन्यत्र कई स्थानों पर जाकर कई देवी देवताओं को प्रसन्न कर प्राप्त करना पड़ता है। भक्ति की प्राप्ति आसान कार्य नहीं है, वह तो अच्युत् की कृपा-कोर का फल है। वही व्यक्ति हरि की भक्ति का अधिकारी कहला सकता है जो गुरुभक्त है। उसे चाहिए कि वह गुरु से मन्त्र की दीक्षा ले।[44] सामान्य मन्त्रों के समूह भी एक साथ मिल कर गुरुद्वारा दिए गए एक मन्त्र की तुलना नहीं कर सकते।[45] शिष्य को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि मन्त्र एवं तन्त्रविद्या का अधिकार गुरु द्वारा दिए गए मंत्र के अभाव में किसी भी हालत में प्राप्त नहीं हो सकता।[46] यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य के सिर में जो सहस्रदल कमल है, वहीं पर गुरु का निवास है। परमात्मा का वह सूक्ष्म रूप है और उसके सूक्ष्मरूप की मानवमूर्ति गुरु है। भगवान् कृष्ण स्वयं गुरु का रूप धारण कर जीवों का कल्याण करते हैं।[47]

पंचरात्रकार की यह दृढ़ धारणा है कि गुरु परमात्मा का रूप है। यहां तक कि उसे सर्वोच्चसत्ता से भी बड़ा बतला दिया गया है। निर्गुण सन्तों ने सम्भवत: पांचरात्र मत के ही भाव को दुहराया है कि हरि के नाराज हो जाने पर शिष्य के लिए गुरु का सहारा तो है परन्तु गुरु के रुष्ट हो जाने की स्थिति में हरि भी शिष्य पर कृपा-दृष्टि रखने से इन्कार कर देता है। ठीक यही भाव पंचरात्रकार का भी है। वहां पर यह बल देकर कहा गया है कि हरि यदि नाराज भी हो जाए, तो गुरु को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। गुरु ही शिष्य का सच्चा रक्षक है। बाकी सभी प्रसन्न रहें तो भी क्या, सभी के प्रसन्न होने पर भी यदि केवल गुरु प्रसन्न नहीं तो कोई दूसरा भक्त की रक्षा नहीं कर सकता।[48] गुरु की प्रसन्नता को हरि की प्रसन्नता माना गया है और हरि की प्रसन्नता में विश्व भर की प्रसन्नता की चर्चा की गई है। गुरु को स्रष्टा, व्यापक और वासुदेव बतलाया गया है।[49]

नाथसम्प्रदाय एवं गुरुसाधना

नाथसम्प्रदाय में स्वीकृत परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए की गई साधना शरीर की साधना मानी जाती है। तदनुसार शरीर की साधना ही हठयोग है और इस साधना में शरीरस्थ कुण्डलिनी को जागृत कर, उसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने का विधान है। इसीलिए नाथसाम्प्रदाय में सद् गुरु धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता और महत्त्व पर अधिक बल दिया गया है। गुरु के उपदेश का अक्षरश: पालन एवं अनुसरण करने वाले शिष्य की सम्पूर्ण बाधाओं के दूर हो जाने में गोरखमतानुयायी साधकों का पूर्ण विश्वास है।[50] गोरख का कहना है कि परमतत्त्व (परमशिव) ताले में बन्द रहता है क्योंकि शब्द की धारा ने सूक्ष्मतत्त्व को आवृत्त किया हुआ है और उसी 'शबदधारा' को ऊर्ध्वमुखी बनाने के प्रयत्न के लिए हठयोग की साधना की आवश्यकता है। शब्दरूपी ताले की यही चाबी है और ताला खोलने का

उपाय बतलाने वाला केवल गुरु ही है। नाथमत का यह भी सिद्धान्त है कि गुरु के 'शब्द' में आत्मतत्त्व का निवास है। उस का चिन्तन एवं मनन करने पर ताला स्वयमेव खुल जाता है। इस प्रकार गुरु के शब्द की कृपा से नाद जागृत होता है। सिद्ध-गुरु स्थूल शब्द की स्थिति से ऊपर उठाकर साधक का परिचय सूक्ष्म शब्द से करवाता है। इस लिए जब तक सद्गुरु की कृपा न हो तब तक शिष्य को साधना के क्षेत्र में सफलता मिलना सम्भव नहीं है।[51] क्योंकि स्वसंवेदन के ज्ञान का अधिकार दिलाने वाला गुरु ही है।[52]

गोरखमत में इस बात पर विश्वास किया जाता है कि गुरु की कृपा एवं बतलाए हुए पथ का अनुसरण करने से साधक को सर्वव्यापकता की सच्ची अनुभूति का सच्चा ज्ञान-प्राप्त होता है।[53] इस लिए गुरु की उपेक्षा या अवहेलना करने वाले शिष्य के शरीर का रस (वीर्य) योग की अग्नि के अभाव में स्थिरता प्राप्त न कर सकने के करण स्खलित हो जाता है।[54] पवन की सिद्धि को नाथसम्प्रादाय की साधना में उलटीसाधना कहा है। उलटी साधना अत्यन्त कठिन साधना है। केवल गुरु ही इस साधना में शिष्य की सहायता कर सकता है।[55] सत्य शब्द की तुलना स्वर्ण की रेखा से की गई है और यह बतलाया गया है कि उसमें हर प्रकार की परीक्षा की कसौटी पर पूरा उतरने की पूर्ण-शक्ति विद्यमान है। इस लिए जिस शिष्य का सद्गुरु योग्य है वही सत्यशब्द का अधिकार प्राप्त करता है। जब तक साधक को गुरु की सच्ची शरण नहीं मिलती वह भ्रांतियों के जाल में भटकता रहता है।[56]

नाथ सम्प्रदायमें भी मन को अत्यन्त चंचल इन्द्रिय माना गया है। मन पल भर के लिए भी निरालम्ब नहीं रहता। इस लिए वह वासनात्मक संस्कारों के अधीन हो कर जागतिक आशाओं के पिंजरे में बद्ध हुआ भटकता रहता हैं। इस प्रकार मन की यात्रा दो प्रकार की अवस्थाओं के मध्य सतत भाव से होती रहती है। वह कभी विरक्ता-वस्था में रहता है और कभी कंचन एवं कामिनी की क्रोड़ में विश्राम एवं शांति प्राप्त करने का दुराग्रह करता है। इस लिए मन की शांति का मात्र एक ही उपाय है और वह है सद्गुरु की शरण प्राप्त करना। गुरु की शरण ही उसे सांसरिक आसक्तियों के प्रति विरक्ति दिला सकती है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियां प्राणवाहिनी नाड़ियां हैं। नाथमत की साधना में कुण्डलिनी को जागृत करने का विधान है। नाड़ी की साधना द्वारा साधक भ्रम के विनाश के उपरान्त ब्रह्मसाक्षात्कार की उपलब्धि का अधिकारी बनता है। अमृत (ब्रह्मानुभूति) को पांच तत्त्वों ने अपने संसर्ग के कारण विषरूप बनाया हुआ है। गुरु के उपदेश से वह विष पुनः अमृतरूप हो जाता है।[57] इसी कारण गोरखनाथ ने साधक को सचेत कर दिया है कि उसे सब से पहले गुरु के 'शब्द' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[58] उन का यह भी विश्वास है कि योग की साधना द्वारा ही भवरोग से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है क्योंकि गुरु की कृपा में अपारशक्ति है।[59] शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के प्रति पूर्ण आस्थावान् बना रहे और गुरु की शिक्षा का पालन करता हुआ 'अलखपुरुष' को पहचानने का प्रयत्न करे।[60] गुरु

अपनी कृपा की दृष्टि से उसे सहजभाव की संतुष्टि प्रदान करता है। और उसे ब्रह्म के रन्ध्र में मेघगर्जन की ध्वनि सुनने का अधिकार प्राप्त होता है। इड़ा और पिंगला के मार्ग से प्रवाहित होने वाली अमृत की धारा सुषुम्ना के प्रवेशमार्ग को प्राप्त करती है। और तब मन का अनाड़ी बैल पूर्णरूपेण वश में आ जाता है।[60] यदि साधक 'निगुरा' है तो वह पतन की गर्त में गिरता है। यही गुरु का महत्त्व है।

अंतिम शब्द

उपर्युक्त पंक्तियों में गुरु-साधना पर विचार किया गया है। गुरु-साधना के ऐतिहासिक विवेचन की परम्परा के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक युग से लेकर सन्तों के समय तक गुरु की शरण को साधक-तत्त्वों में ग्रहण किया गया है। वैदिकयुग में पुरोहित गुरु का स्थान प्राप्त किए हुए था। जब उपनिषत्काल में अध्यात्म-विद्या को महत्त्व प्राप्त हुआ, गुरु का स्थान तपोवनों एवं अरण्यों में अध्यात्मचिन्तन में रत ऋषियों को प्राप्त हुआ। शंकराचार्य के उपनिषदों के भाष्य के अंग्रेजी भाषा के रूपान्तर में स्वामी अखिलानन्द ने ब्राह्मण एवं क्षत्रियवर्ग के पारस्परिक संघर्ष का ऐतिहासिक प्रमाणों सहित उल्लेख किया है। अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में वर्ण, लिंग और जाति के भेद के पूर्वग्रह एवं संस्कारों के प्रति अनास्था का भाव विशेष बल सहित प्रचार का विषय बनता रहा है। सत्यकाम और जाबाल की कथा न केवल शिष्य के जाति सम्बन्धी पक्षपात का खण्डन करती है, बल्कि अजातशत्रु एवं जनक जैसे ब्रह्मवेत्ताओं के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि अध्यात्मविद्या के गुरु केवल ब्राह्मण ही नहीं थे। किसी भी वर्ण का व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता होने की हालत में गुरु की पदवी धारण कर सकता था। उपनिषदों में यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड का खण्डन नहीं है परन्तु पराविद्या के महत्त्व की तुलना में कर्मकाण्ड को निम्नकोटि का माना है। अध्यात्मविद्या की साधना अन्तस् अर्थात् विवेक, वैराग्य एवं ज्ञान की साधना है, अतः गुरु के पथप्रदर्शन की आवश्यकता अनिवार्य रूप ग्रहण कर गुरु के महत्त्व का हेतु सिद्ध हुई है। वैदिक विचारधारा और वैदिकेतर विचारधारा के मिश्रण से एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो उपनिषदों, संख्य एवं योग के तत्वज्ञान से प्रभावित हो कर भी स्वतन्त्र चिन्तन के मार्ग के रूप के निर्माण में सफल रहा है। इसी वर्ग ने बौद्ध एवं जैन मत के प्रचार की पृष्ठ-भूमि का निर्माण भी किया है।

बौद्ध एवं जैन धर्म के आदि प्रवर्तकों के पूर्व ही, अथर्ववेद की विचारधारा से प्रभावित ऋषि, मुनि, तपस्वी, त्यागी एवं वैरागी ऋषि जन तपस्या, योगसाधना, और शरीर के भीतर परमात्मा की प्राप्ति की साधना की ओर ध्यान देने लग गए थे। 'एनसाइक्लोपीडिया रिलिजन एण्ड ऐथिकस' में इन मुनियों, यतियों और तपस्वियों की परम्परा एवं उन के सम्प्रदायों के सम्बन्ध में सविस्तर उल्लेख हुए हैं। सन्तमत-सम्मत गुरु के स्वरूप की विचार-धारा के चिह्न उसी युग में निर्मित होते दिखाई देते हैं। इन सभी मिली जुली शक्तियों ने बुद्ध एवं महावीर को जन्म दिया और बुद्ध ने अपने जीवनकाल में ही सत्य की उपलब्धि के लिए आत्मनिरीक्षण एवं आत्मप्रयत्न को जीव का साध्य माना है। अपने धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ का निर्माण किया। ऐसे अनेक उदाहरण

बौद्धग्रन्थों में मिलते हैं, जिन के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि बुद्ध के जीवन-काल में ही योग एवं तपस्या की साधना द्वारा ऋद्धियों-सिद्धियों की शक्तियों की प्राप्ति में साधकों का विश्वास था और कई बौद्धभिक्षु भी इस प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति कर, समाज में चमत्कार एवं आकर्षण के पात्र बनते जा रहे थे। बुद्ध ने योग द्वारा प्राप्त शक्तियों के कारण प्राप्त होने वाली सिद्धियों को निर्वाणमार्ग की बाधा मानकर, उनका खण्डन भी किया था। संघ निर्माण का परिणाम यह हुआ कि 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के विश्वास से गुरु के महत्त्व को विशेष प्रश्रय मिला। बुद्ध के बाद महायान में बोधिसत्त्वों के सिद्धान्त की स्वीकृति के कारण साधनापक्ष में गुरु के महत्व की अनिवार्यता पर अधिक बल दिया गया है।

बौद्ध धर्म के परवर्ती आम्नायों में शरीर के भीतर ही परमतत्त्व को प्राप्त करने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। विशेषत: वज्रयान और सहजयान में गुरु के महत्व पर विशेष बल दिया गया है। शून्य-करुणा वज्रसाधना, प्रज्ञोपायसाधना आदि सभी यौगिक साधनाएँ हैं। सभी में गुरु की आवश्यकता एवं महत्ता को सम्मुख रखा गया है। गौड़पादाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों की विचार धारा का व्यवस्थित दार्शनिक रूप हैं। तदनन्तर शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों एवं उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। उन्होंने ने भी बौद्धधर्म का खण्डन कर उसकी एक प्रमुख एवं विशिष्ट परम्परा को स्वयं अपना लिया है। शंकराचार्य ने बौद्धसंघ की परम्परा का अनुकरण करते हुए मठों की स्थापना की; और स्वयं जगत्गुरु शंकराचार्य कहलाए। इस प्रकार गुरु की परम्परा में कोई अन्तर नहीं आया।

भक्तिदर्शन एवं भक्ति सम्बन्धी साहित्य में 'भागवतपुराण', 'पंचरात्र संहिताएं', 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र', आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण भगवतभक्ति के ग्रन्थ माने जाते हैं। जयाख्यसंहिता, और अहिर्बुध्न्यसंहिता भागवतभक्ति की प्रामाणिक संहिताएँ हैं। भगवद्-गीता को भक्ति की अद्वितीय कृति माना जाता है। इन सब में गुरु के महत्त्व को विशेष रूप से मान्यता दी गई है। परवर्ती आचार्यों ने भी गुरु के अनिवार्य महत्त्व को स्वीकार किया है। वे भगवान् और गुरु मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानते। सूरदास ने इसी परम्परा का पालन करते हुए अपने गुरु वल्लभाचार्य की स्तुति अत्यन्त मार्मिक भाषा एवं गलदश्रुभावुकता की स्थिति में की है। भक्ति की परम्परा में गरुमन्त्र का उतना ही महत्त्व है जितना कि किसी भी दूसरी धार्मिक परम्परा के साधनामार्ग में है।

मुख्य-मुख्य उपनिषदों की भाँति अप्रधान उपनिषदों में भी गुरु के महत्त्व पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जब कभी भी गुरु सम्बन्धी विषय का अवसर उपस्थित हुआ, गुरुसाधना का आदरपूर्ण शब्दों द्वारा समर्थन किया गया है। हिन्दूतन्त्रग्रन्थों में वर्णित गुरु के गौरव का उल्लेख पीछे हो चुका है। कुण्डलिनी सिद्धांत तान्त्रिक मतों का प्रधान-सिद्धांत है। तदनुसार शरीर में अनेक चक्रों की स्थिति मानी गई है। कुण्डलिनी का निवास-स्थान मूलाधार बतलाया जाता है और शिव को सहस्रार में। साधक कुण्डलिनी को जागृतकर उसे सहस्रार में ले जाता है। यह उलटी साधना कहलाती है और जो अत्यन्त

कठिन है। गुरु की सहायता के बिना साधक के लिए साधनामार्ग में सदा भय बना रहता है। सिद्धगुरु ही साधक का पथप्रदर्शन कर सकता है। इसी लिए हिन्दुओं के शाक्त एवं शैव तथा बौद्धों के वज्रयानादि मतों एवं आम्नायों की साधना में गुरु के महत्त्व पर बल दिया गया है, और स्थान-स्थान पर उस की स्तुतियां की गई हैं। नाथ सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म के एकमेक होने के लिए हठयोग की साधना को स्वीकार किया जाता है। निर्गुणसंतों ने योग के प्रकारों का उल्लेख तथा खण्डन मण्डन कर अन्त में सहजयोग को सर्वोत्तम योग बतलाया है। योग के लिए गुरु का महत्त्व है। भक्ति हो या योग सन्तों के साम्प्रदाय में गुरु के बिना ऐहिक एवं पारलौकिक किसी प्रकार के प्रयत्न की सिद्धि सम्भव ही नहीं मानी गई। विशेषकर सिक्ख गुरुओं ने गुरु के महत्त्व को हर समय याद रखा है। उनका इस सिद्धान्त में अटूट विश्वास है कि गुरु की कृपा के अभाव में जीव किसी काम का नहीं है। गुरु नानक ने 'मूलमन्त्र' में वाहगुरु के स्वरूप का उल्लेख करते हुए अन्त में 'गुर परसादि' लिखकर गुरु-कृपा के सिद्धान्त को सर्वोपरि सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया है।

निर्गुणसंतों के गुरुसम्बन्धी विचारों की विशेषताएं

निर्गुणसंतों द्वारा वर्णित गुरु सम्बन्धी सिद्धांतों के प्रेरणा-स्रोतों का विवेचन करते समय बतला आए हैं कि 'अद्वयतारकोपनिषद्' में गुरु के शब्द को साधक के अज्ञानान्धकार को दूर करने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वैदिक युग में पुरोहित ही गुरु का स्वरूप था। उपनिषदों में अध्यात्मविद्या के उपदेष्टा ऋषि अध्यात्मगुरु के रूप में पूजे जाते थे। सभी अध्यात्म-साधनाएं गुरु के महत्त्व को सादर स्वीकार करती हैं। संतों की साधना 'उलटी साधना' है। शरीर के भीतर के 'ब्रह्म-तत्त्व' को प्राप्त करने के लिए गुरु के निर्देशन की आवश्यकता है। अन्तःसाधना प्रधान सभी मार्गों में गुरु की भक्ति पर बल दिया गया है। इन साधना-मार्गों में गुरु की सहायता के बिना एक पग भी उठाना सम्भव नहीं है। शिष्य के हृदय में ज्ञान और प्रेम की चिनगी फेंकने वाला गुरु है। संतो ने इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान कर सर्वत्र गुरु-कृपा की याचनाएं की हैं।

बौद्धमत में भी 'चार आर्य-सत्यों' के समुचित ज्ञान के लिए गुरु की शरण में जाने का आदेश है। यद्यपि बुद्ध स्वयं आत्मप्रयत्न द्वारा तत्त्वविचार करने पर अधिक बल देते हैं लेकिन बौद्धधर्म जिस समय तान्त्रिक विचारधारा एवं योग साधना प्रधान बन गए, उस समय गुरु की सहायता की आवश्यकता अविवार्य समझी जाने लगी। महायान में बोधिसत्त्वों के रूप में गुरु-साधना का महत्त्व मान्य है। हिन्दूतन्त्रों की साधनाओं में गुरु और शिव एक माने गए हैं। संतों ने भी गुरु और गोविन्द में अभेद माना है। नाथपंथियों, योगियों, बौद्ध तथा वैष्णव-सहजयानियों, वज्रयानी तान्त्रिकों तथा परवर्ती सहजिया सिद्धों की साधनाओं में गुरु की महिमा पर विशेष बल दिया गया है। संतों का विश्वास है कि गुरु की सहायता के बिना साधना के मार्ग पर चलना कदापि सम्भव नहीं है।

तंत्र-साधनाएं शरीर के भीतर ही जीव और परमात्मा के मिलन के सिद्धांत को मानती हैं। शाक्त, शैव एवं बौद्ध तन्त्रों में गुरु-भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। तान्त्रिक-ग्रंथों में गुरु एवं शिष्य की योग्यताओं एवं कर्तव्यों के सविस्तर वर्णन मिलते हैं। उनमें मंत्र को चेतनशक्ति माना गया है और देवता मंत्र से उत्पन्न माने गए हैं। यह माना जाता है कि भौतिक शरीर की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होने पर भी प्रत्येक गुरु परमत्त्व से अभिन्न है। संतों ने तन्त्रसाधना में स्वीकृत गुरु के महत्त्व को उसी रूप में स्वीकार कर लिया है, परन्तु गुरु के संबंध में जिस प्रकार का विवेचन तंत्र मत में किया गया है ठीक वैसा ही संतों ने नहीं किया है। यह अन्तर गुरुसम्बन्धी विचारों की पृष्ठभूमि के अध्ययन से स्पष्ट है।

योगवाशिष्ठ एवं परवर्ती उपनिषदों में गुरु के लक्षण एवं गुरु के महत्त्व का जिस रीति से प्रतिपादन हुआ है, संतों के गुरुभक्ति से सम्बन्धित वर्णनों में भी वैसा ही है। संतों की अटूट आस्था है कि गुरु ही भक्त या साधक को भक्ति की संजीवनी-मूरि प्रदान करता है। वही शिष्य की सच्ची शरण है। शिष्य गुरु-भक्ति एवं गुरु-साधना द्वारा ही आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। अन्य सम्बन्ध केवल औपचारिक सम्बन्ध हैं। वे अंत समय साथ नहीं देते। केवल गुरु ही सच्चे अर्थों में साधक का अकेला एवं सगा सम्बन्धी है। अपने समय के भेखी गुरुओं का खंडन करते हुए सिद्धावस्था को प्राप्त जीवन्मुक्त व्यक्ति को ही निर्गुणसंतों ने सद्गुरु माना है। सच्चे गुरु के अभाव में निर्गुण संत सर्वत्र अन्धकार की स्थिति मानते हैं।

वैष्णवग्रन्थों में भी गुरु की महिमा पर अधिक बल दिया गया है। धीरे-धीरे भारतीय धार्मिक साधनाओं पर गुरुवाद का अनावश्यक प्रभुत्व स्थापित हो गया। पाखंडी गुरु कोरा मंत्र देकर ही समाज में अन्धविश्वास पैदा कर उनसे अपने लिए अनुचित लाभ उठाने लगे। तान्त्रिक एवं वैष्णवमतों में गुरु के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया, निर्गुणसंत उससे अधिकांशत: सहमत हैं परन्तु गुरुमहिमा का वर्णन करते समय पाखंड पूर्ण गुरुवाद को प्रश्रय देने का उन्होंने सर्वत्र खण्डन किया है। उनके द्वारा सद्गुरु के लक्षणों का उल्लेख इस तथ्य का प्रमाण है कि सद्गुरु का खंडन न करते हुए भी संतों ने उस समय के पाखण्डी गुरुओं के मिथ्याचार की निन्दा की है। गुरुनानक की साधना नाम की साधना है और वह केवल गुरु की कृपा द्वारा ही संभव बतलाई गई है। सभी निर्गुण संत परमात्मा में और गुरु में परस्पर किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं मानते। योगवाशिष्ठ की धारणा निर्गुण संतों ने उसी रूप में अपना ली है तथा वैष्णवभक्ति में स्वीकृत गुरुवाद को भक्ति की प्राप्ति के लिए अनिवार्य बतलाया है। कबीर जुगी जाति से परम्परागत सम्बन्ध रखते हैं। जुगी जाति पर प्राय: उन धार्मिक विश्वासों एवं साधना मार्गों का प्रभाव है जो अन्त:साधना प्रधान हैं। अन्त:साधना प्रधान मतों में गुरु के बिना साधक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए कबीर ने गुरु के बारे में ऐसी साधनाओं में प्रचलित विश्वासों को स्वीकार किया है। इसी प्रकार सभी संत गुरु की कृपा को भक्ति की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हैं।

तान्त्रिक साधनाओं में गुरु की पूजा का जो रूप है उसे संतों ने छोड़ दिया है। भक्ताचार्यों द्वारा प्रचारित वैधीभक्ति में भी अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड का विधान है। इन दोनों पद्धतियों में गुरु की पूजा आडम्बर एवं कहीं-कहीं आंतक का रूप धारण कर चुकी थी। गुरु पैतृक परम्परा के उत्तराधिकार को प्राप्त करते थे। निर्गुणसंत इस प्रकार के अन्धविश्वासों से पूर्णतया मुक्त हैं। पाखण्डी गुरु से उन का मात्र यही आशय नहीं है कि जिस ने धोखे और फ़रेब से समाज की श्रद्धा की भावना को अपनी ओर लगाया हुआ है। पाखण्डी गुरु वे भी हैं, जिन्हें आत्म साक्षात्कार तो हुआ नहीं परन्तु प्रचार इस बात का करते हैं कि उन्होंने संसार के विषयों से पूर्णरूपेण उपराम ले लिया है। संतभक्त तो हैं परन्तु उन्हें ज्ञानी भक्त कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। ज्ञानी भक्त वह है जिसने अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लिया है। ऐसा व्यक्ति परमात्मा रूप हो जाता है। इसी कोटि के गुरु को उन्होंने नमस्कार किया है। अन्य सम्प्रदायों में गुरु की सन्तान भी गद्दी की अधिकारी मान ली जाती है और अध्यात्म के क्षेत्र में उन्नत न होने पर भी गुरु-गद्दी का उत्तराधिकारी होने के कारण उसे पूजा जाता है। इस प्रकार का विश्वास निर्गुण संतों का नहीं है। अतः उनके गुरु सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत दृष्टिकोण से जानना ही उपयुक्त है।

———

पाँचवां अध्याय

संतसाधना तथा योग

निर्गुणसंत एवं सहजयोग

निर्गुणसंत भारतीय धर्मसाधना की ऐतिहासिक परम्परा के उस युग से सम्बन्ध रखते हैं, जिस समय एक ओर बौद्धधर्म, वज्रयानी तथा सहजयानी सिद्धों के माध्यम से धार्मिकसाधना एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित कर यौगिक प्रक्रियाओं का प्रचार कर चुका था और दूसरी ओर शैव दर्शन एवं साधना नाथ-सम्प्रदाय के रूप में हठयोग की साधना द्वारा सदेह मुक्ति के प्रति प्रयत्नशील थी। शांकर अद्वैतवाद और वैष्णवभक्ति का आन्दोलन उस युग के धार्मिक जीवन में प्रभावशाली स्थान बना चुके थे। सन्तों ने सभी साधनाओं के तत्त्वों को अधिक या कम मात्रा में स्वीकार किया है। उन का साध्य भक्ति है और ज्ञान, कर्म तथा योग को उन्होंने भक्ति की प्राप्ति के साधन माना है। उन का दार्शनिक सिद्धान्त अपना है जो काश्मीर शैव दर्शन और गीता के पुरुषोत्तमसिद्धान्त से पर्याप्त सीमा तक मिलता है।

योग की साधना सिन्धु सभ्यता के समय भी किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। वैदिक धर्म में इस धर्म के धार्मिक तत्त्वों का समावेश हुआ। जिसके फलस्वरूप साधकों ने अन्तः साधना के महत्त्व को स्वीकार कर लिया। परिणामतः योग की साधना को विशेष बल मिला और यौगिक सिद्धियों का आकर्षण बुद्ध के समय तक प्रबल रूप धारण करने में समर्थ हो गया। महायान में योग-साधना का विशेष प्रचार हुआ है, जिसे विद्वानों ने सामन्ती संस्कृति का स्वाभाविक परिणाम भी माना है।[1] सिद्धों ने चित्त को निःस्वभाव बनाकर प्रज्ञोपाय के सामरस्य की प्राप्ति के लिए योग की साधना का सहारा लिया है। इस प्रकार योग की परम्परा विभिन्न रूपों में निर्गुणसंतों पर्यन्त प्रचलित रही तथा हठयोग की साधना के प्रति विशेष आकर्षण न रहने पर भी इस साधना का प्रभाव समाप्त न हुआ और प्रत्येक साधना को 'योग' का अभिधान प्राप्त हो गया।

निर्गुणसम्प्रदाय में यद्यपि अधिक बल परमात्मा की भक्ति पर ही दिया गया है तथापि सिद्धपरम्परा द्वारा विशेष रूप से प्रभावित होने के कारण जीव द्वारा आत्म-साक्षात्कार के लिए अथवा भक्तिसाधना में मन की एकाग्रता के हेतु योगसाधना की स्वीकृति भी है। निर्गुणसाधकों की प्रवृत्ति सहज या राजयोग की ओर ही अधिक रही है। वे इसी को योग-साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं।[2] इस प्रकार संतों ने

योग की साधना को भक्तिसाधना का सहायक अंग माना है। निर्गुण संतों की योग सम्बन्धी चर्चाएँ उन के व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित हैं। वे हठयोग की साधना का विरोध करते हैं यद्यपि शरीर के अनुशासन के लिए कहीं-कहीं उसे स्वीकार भी कर लिया गया है। उन का सहजयोग शब्दसाधना पर आधारित है। मलूकदास एवं सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं में योगदर्शन के शास्त्रीय वर्णन भी दिए हैं। सुन्दरदास तो योगशास्त्र के पारंगत विद्वान् प्रतीत होते हैं।

सन्त एवं हठयोग साधना

कबीर के समय की 'जुगी जाति' में नाथपन्थी योगियों का प्रभाव था। उनके वर्णनों से पता चलता है कि उस समय पाखण्डी योगियों की कमी नहीं रही होगी। 'हठयोग प्रदीपिका' के हठयोग सम्बन्धी वर्णनों से कबीर की योगसम्बन्धी चर्चाएँ मेल खाती हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वह हठयोग की प्रचलित साधनाओं से भलीभाँति परिचित थे। बाद में उन का विश्वास हठयोग की साधना में नहीं रहा होगा।[3] वह स्वानुभूतिमूलक सहजयोग तथा प्रपत्तिमूलक भक्तियोग के प्रति दृढ़ आस्था ही नहीं रखते अपितु बार-बार सहजयोग की भरपूर स्तुति भी करते हैं।[4] नानक एवं कबीर में योग के बारे में केवल यह अन्तर है कि नानक ने आदि और अन्त दोनों स्थितियों में सहजयोग की चर्चा की है जब कि कबीर नाड़ीसाधना की चर्चा भी करते हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि नानक ने आरम्भ मे ही बाह्याडम्बरों, मिथ्याचारों तथा व्यर्थ की साधनाओं का खण्डन किया है लेकिन कबीर परीक्षणों के उपरान्त एक निर्णय के बाद दूसरे निर्णय पर पहुँचते रहे हैं। नानक का हठयोग की साधना से सीधा विरोध है।[5] योगी सिद्धों की गोष्ठियाँ बाद की कल्पनाएं हो सकती हैं और है भी ऐसा ही, परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट है कि उस समय हठयोग साधना के विकृत स्वरूप को नानक किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकते थे।

गोरख नाथ ने स्त्री को योग की साधना में बाधक तत्त्व माना है और बिन्दु की रक्षा (वीर्यशक्ति) पर अधिक बल दिया है। घर-गृहस्थ त्याग कर योगी का जीवन व्यतीत करना नानक को कदापि पसन्द नहीं है तथा अन्य सन्त भी परिवारिक जीवन को हेय नहीं मानते। हठयोग के प्रति अनास्था या विरोध का एक कारण यह भी है। सन्तोंने परिवारिक जीवन में ही निर्लिप्त रहने का उपदेश दिया है। उनका कहना है कि जल में कमल की भाँति हमें सांसारिक आसक्तियों से दूर रहना चाहिए। वे सहज जीवन के प्रति आस्था रखते हैं। नानक ने हठयोग की साधना के बाहरी आडम्बरों को पाखण्ड बतलाया और उनका खण्डन किया है।[6]

सभी निर्गुण सन्तों ने सामान्यतया एवं कबीर ने विशेषकर अपने 'शबदों' 'साखियों' एवं 'रमैनियों' में गोरख सम्प्रदाय के योगियों के लिए 'अवधूत' शब्द का प्रयोग किया है। कबीर स्वयं साधक थे अतः उन्होंने असंगतियों का एक साथ निराकरण कर दिया है। जो उन्हें अनुभव की कसौटी पर परखने से उचित प्रतीत हुआ, उस का बलपूर्वक प्रचार किया है और जिसे ठीक नहीं समझा उसका खण्डन किया है। वह

अवधूत को सम्बोधित करते हुए. उसे गगन-मण्डल में अपना निवास स्थान बनाने का उपदेश देते हैं। बंकनाल (कुण्डलिनी) का रसपान करने को कहते हैं तथा अमृतस्राव के पान से जनित सुख एवं आनन्द की अनुभूति का वर्णन करते हैं।[7] उन्होंने स्पष्ट कहा है, हे अवधूत, यदि सोई हुई कुण्डलिनी को नींद से जगाने की साधना में सफलता प्राप्त कर ली जाए तो काल अपनी चाल भूल जाता है। चिन्ता, पीड़ा तथा अन्तर्द्वन्द्व निकट नहीं आते। शरीर जरा का शिकार नहीं होता। कुण्डलिनी को जागृत कर जिह्वा के उलटने के अभ्यास द्वारा अमृत के स्राव को नीचे की ओर बहने से रोक कर उसे कालाग्नि के शोषण से बचाया जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद का कहना है कि नाथपन्थ की साधनापद्धति का नाम 'हठयोग' है। कबीर को समझने के लिए इस साधना-पद्धति की जानकारी होनी चाहिए।[8] इससे यह पता चलता है कि कबीर का हठयोग-साधना का विश्वास धीरे-धीरे सहजयोग में परिवर्तित हुआ होगा।

संतों द्वारा हठयोग का खण्डन

सिद्धों की भाँति कबीर ने भी धक्कामार भाषा का प्रयोग किया है। सिद्धों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली में ही वह हठयोग की साधना का खण्डन करते हैं। उन की कतिपय उक्तियों का विरोधाभास पारिभाषिक अर्थों के स्पष्ट होते ही दूर हो जाता है। सिद्धसाहित्य की भी यही विशेषता है। कबीर कुलीन योगी को नित्य मांसभक्षण का उपदेश देते है तथा अमरवारुणी पान के लिए प्रेरित करते हैं।[9] मांसभक्षण का नाम सुनते ही पहले पहल एक धक्का सा लगता है परन्तु भाव की गहराई में जाने से स्पष्ट हो जाता है कि गोमांसभक्षण से कबीर का आशय जिह्वा को उलट कर उसे तालु भाग में ले जाकर दशम द्वार से प्रवाहित अमृत-स्राव का पान करना है। उन्मनी अवस्था में विचरण कर भव की भट्ठी में ज्ञान के गुड़ और ध्यान के महुए से इस महारस को चुवाकर उसे पीना ही अमरवारुणी-पान है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर योगियों की शब्दावली में हठयोग को साध्य मान बैठने वालों की धारणा का खण्डन कर सहजावस्था की प्राप्ति की साधना के पक्ष का समर्थन कर रहे हैं।[10] उन्होंने उनकी शब्दावली के अर्थों को कहीं-कहीं पूर्णतया बदल दिया है। 'गगन' शब्द का प्रयोग वह शून्य एवं समाधि की अवस्था के लिए करते प्रतीत होते हैं। पातंजल योगदर्शन के अनुसार यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है।

निर्गुणसन्तों का विश्वास है कि जीव, ब्रह्म में एकमेक होकर अपने परमस्वरूप में उसी प्रकार तदाकार हो जाता है जिस प्रकार कुम्भ के फूट जाने पर बाहर एवं भीतर का पानी तद्रूप हो जाता है। वे असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था का वर्णन आदि, मध्य एवं अन्त में सर्वत्र गगन ही गगन के व्यापक अस्तित्व के रूप में करते हैं। यही हठयोग की परमावस्था है जिसे कबीर ने एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है।[11] कबीर ने योगसम्बन्धी वर्णनों में पाँच प्राणों सोलह आधारों, इक्कीस नाड़ियों और बहत्तर कोष्ठों आदि का जिकर किया है।[12] जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सहजयोग के प्रति उनकी आस्था उनके अपने परीक्षणों का ही परिणाम है।

कुण्डलिनी योग तथा निर्गुण संत

हठयोग की साधना का आधार महाकुण्डलिनी शक्ति के उस सिद्धान्त पर आधारित है जिसको 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' में गोरखनाथ ने विस्तार सहित वर्णित किया है। इसी प्रकार का वर्णन योगवाशिष्ठ में भी मिलता है। हठयोग के दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता है कि सम्पूर्ण सृष्टि में महा-कुण्डलिनीशक्ति व्यापक रूप में समाई हुई है। यही समष्टिरूपा महाकुण्डलिनी व्यष्टि के रूप में कुण्डलिनी कहलाती है। माता के गर्भ में जीव, प्राण तथा कुण्डलिनी सहित प्रवेश करता है। शरीर में पीठ में एक मेरुदण्ड है। यह मेरुदण्ड सीधा नीचे की ओर जाकर वायु तथा उपस्थ के मध्यमार्ग से स्पर्श करता है, जहाँ पर एक प्रकार का त्रिकोणाकार चक्र है। उसी चक्र में 'स्वयम्भूलिंग' की स्थिति मानी जाती है। कहीं कहीं त्रिकोणचक्र का नाम 'अग्निचक्र' भी दिया गया है। उसी स्थान पर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी स्वयम्भूलिंग को साढ़े तीन वलयों में घेरकर अधोमुख पड़ी है। त्रिकोणचक्र के बाद उत्तरोत्तर ऊपर की ओर अन्य पाँच मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, विशुद्ध तथा आज्ञा नामक चक्र हैं। इन सबके ऊपर शून्य नामक छठा चक्र है। योगी इसी शून्य चक्र में जीवशक्ति को पहुँचाने की साधना करता है। शून्यचक्र को 'गगन-मण्डल' तथा 'सहस्रार चक्र' भी कहते हैं। कई ग्रन्थों में इसे 'कैलास' भी कहा गया है। कबीर अनेक बार 'अवधूत' को इसी 'कैलासलोक' में विचरण करने का, उपदेश देते हैं। संतसम्प्रदायों में सहस्रारचक्र से भी ऊपर 'सुरति कमल' की कल्पना के संकेत मिलते हैं। कई संतों की यह धारणा भी है कि सहस्रारचक्र तक जीव को ले जाने वाले योगी की समाधि टूट जाने पर वह फिर से वासना का शिकार हो सकता है। परन्तु सुरति कमल तक जिस योगी का अधिकार हो जाता है उसे दोबारा कदापि वासना का शिकार नहीं होना पड़ता।[13]

हठयोग साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों में मेरुदण्ड में प्रणवायु का संचार करने वाली अनेक नाड़ियां हैं। इस नाड़ीसमूहचक्र में इड़ा तथा पिंगला प्रधान हैं। इन्हीं को कबीर ने इंगला-पिंगला कहा है। तीसरी नाड़ी सुषुम्ना है, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है। कुण्डलिनी इसी सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग द्वारा ऊपर की ओर उठती है। यद्यपि स्थूलरूप से कुण्डलिनी का प्रवेश-मार्ग सुषुम्ना बतलाया जाता है परन्तु योग-साधना के अनुभवी साधकों ने कुण्डलिनी का वास्तविक प्रवेश-मार्ग 'ब्रह्म-नाड़ी' माना है। 'ब्रह्मनाड़ी' की स्थिति चित्रिणी के भीतर, चित्रिणी की वज्रा के भीतर और पुनः वज्रा की सुषुम्ना के भीतर, ऐसा क्रम है। इन पाँच नाड़ियों को पाँच धाराएँ भी कहते हैं।[14] जहाँ तक हठयोग साधना के ग्रन्थों का सम्बन्ध है, उनमें मुख्य रूप से उपर्युक्त तीनों नाड़ियों के नाम ही प्रायः मिलते हैं। सिद्धाचार्यों की रचनाओं में इन तीनों के नाम क्रमशः ललना, रसना और अवधूती हैं।[15] सुषुम्ना नाड़ी का उपर्युक्त नाड़ीत्रय में अत्यधिक महत्त्व है। यह शाम्भवीशक्ति के नाम से भी प्रसिद्ध है।[16] इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र के जिस स्थान में जाकर मिलती हैं उसे 'त्रिवेणी' कहा गया है।[17] निर्गुण सन्तों ने अपनी योगपरक उक्तियों में 'त्रिवेणी-स्नान' के महत्त्व का बार-बार उल्लेख

किया है ।[18]

नाड़ी साधना और हठयोग

हठयोग साधना नाड़ी साधना भी कही जाती है । कुण्डलिनी शक्ति जबतक अधोमुखी रहती है, जीव काम एवं क्रोध आदि विषयों के वशीभूत होकर आचरण करता है । योगाभ्यास में कुण्डलिनी को साधना द्वारा जगाया जाता है और जिस समय वह प्रसुप्तावस्था का त्याग कर जाग उठती है, उस समय साधक को एक प्रकार की नादध्वनि सुनाई पड़ती है । वही स्फोट प्रकाश रूप धारण करता है अर्थात् अभिव्यक्त हो जाता है । प्रकाश के इस व्यक्त-स्वरूप को 'महाबिन्दु' कहते हैं । शास्त्र ग्रन्थों में स्फोट या बिन्दु को इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सूचक भी माना गया है । योगसाधना में इन तीनों के नाम सूर्य, चन्द्र अग्नि तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं । महाकुण्डलिनी की भाँति ही यह नाद विश्वव्यापी रूप में 'अनहदनाद' तथा व्यष्टि के रूप में नाद या बिन्दु है । कुण्डलिनी की उत्थापन-क्रिया से पूर्व सुषुम्ना का मार्ग रुद्ध स्थिति में रहता है और श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया इड़ा एवं पिंगला के मार्ग द्वारा चलती रहती है । जब तक सुषुम्ना का मार्ग बन्द रहता है, जीव की स्थिति बहिर्मुखी रहती है । सुषुम्ना मार्ग के उन्मुक्त होते ही कुण्डलिनी जागृत हो उठती है । कुण्डलिनी के जागृत होकर ऊपर उठते समय योगी को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते हैं । ऐसी अवस्था में योगी का चित्त भ्रमर की भाँति नाद में आसक्त हो जाता है और उसका बाह्यसंसार से सम्बन्ध का पूर्ण विच्छेद होता है ।[19]

हठयोग साध्य नहीं है अपितु वह राजयोग का साधन या सोपान है । पातंजल योगदर्शन में भी हठयोग का लक्ष्य शरीर एवं मन की शुद्धि माना गया है । अन्तः साधना-प्रधान मतों की इस प्रकार की साधना धीरे-धीरे सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों की मेरुदण्ड बन गई । काया-साधना को नाथपन्थ में मोक्ष की प्राप्ति का प्रमुख साधन मान लिया गया । हठयोग की साधना में शरीर की शुद्धि के लिए षट्कर्म के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है । इसके लिए अनेक प्रकार के आसनों, मुद्राओं, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि आदि की विशद प्रक्रियाओं की चर्चा भी की गई है । प्राणायाम में 'केवल' को, मुद्राओं में 'खेचरी मुद्रा' को और समाधियों में 'नाद समाधि' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है ।[20] केवल' नामक प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के निद्रा त्याग का सिद्धांत भी हठयोग के ग्रन्थों में स्वीकृत है। कबीर के आरम्भिक विचारों में खेचरीमुद्रा के महत्त्व पर अधिक बल दिया गया प्रतीत होता है । खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार दी गई है :—

खेचरी मुद्रा की साधना के समय योगी जिह्वा को उलट कर, दृष्टि को भौहों के बीच स्थिरकर, उसे कपाल-कुहर में ले जाता है । यह साधना अतीव कठिन है परन्तु योगी के लिए विशेष सिद्धि-प्रद बतलाई गई है । इसे 'व्योम चक्र-मुद्रा' भी कहा है । 'खेचरी-मुद्रा' की सिद्धि से योगी शक्ति के केन्द्र,चन्द्रस्थान से झरने वाले अमृत का पान करने की योग्यता का अधिकार प्राप्त कर लेता है । इस रीति से प्राप्त होने वाला अमृत-रस योगी

को अमरत्व प्रदान करता है। इसे अमर वारुणी कहा गया है। जिसका पान कर वह अजर एवं अमर हो जाता है।[21] खेचरी मुद्रा का अत्यधिक महत्त्व इसी कारण है। कबीर अमर वारुणी के पान का वर्णन गोमांसभक्षण के प्रतीक द्वारा करते हैं। कबीर के ये वर्णन उलटवासियाँ कहलाते हैं। उनकी दृष्टि में उत्तम योगी वह है, जो गोमांसभक्षण की विधि में निपुण है। दूसरे योगियों को उन्होंने बाह्याडम्बर में भटक रहे बतलाया है।'[2] कबीर ने स्वयं अमरवारुणी पान के आस्वाद का अनुभव प्राप्त किया है और उसी के पान के लिए अवधूत को बार बार निमन्त्रित भी किया है।[23]

गत पंक्तियों में अमरवारुणी की जो चर्चा की गई है, वह साधारण मदिरा नहीं है। सामान्य मदिरा का नशा क्षणिक होता है, परन्तु 'अमर वारुणी' पीने के बाद कबीर ने जिस 'मनोन्मनी अवस्था' की प्राप्ति का वर्णन किया है वह चिरस्थाई आनन्द की दशा की स्थिति की प्रतीक है। इस दशा में पहुँचे हुए योगी का वायु (प्राणादि) पर पूर्णधिकार हो जाता है। उसका मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है। मन का स्थिर होना ही योगी की 'उन्मनीरहनी' है।[24] कबीर द्वारा प्रतिपादित उन्मनी या मनोन्मनी अवस्था ही समाधि की अवस्था है। 'हठयोग प्रदीपिका' में समाधि-अवस्था के लिए अद्वैत, निरालंब, निरंजन आदि अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं। संत-साहित्य में 'लय' को भी मोक्षदशा कहा गया है। हठयोग की साधना में मन और प्राण की स्थिरता ही 'लयावस्था' है। निर्गुण संत समाधि की अवस्था के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग करते हैं और आत्मा तथा परमात्मा के लिए भी। परन्तु उनका शून्य नागार्जुन के शून्य की भाँति या कोटि का नहीं है। आत्मा जब षट्चक्र-भेदन की क्रिया द्वारा शून्यचक्र में प्रवेश करती है, तब की स्थिति को समाधि-अवस्था कहा जाता है। योगी इस अवस्था में सर्वत्र शून्य ही शुन्य अर्थात् परमात्मा के प्रकाश एवं विमर्श के व्यापक प्रसार का अनुभव करता है।[25] कबीर समाधि-अवस्था की इस स्थिति के पूर्ण अनुभवी योगी है।[26] उन्होंने अपने हठयोग की साधना के ज्ञान की अभिव्यक्ति अत्यन्त व्यंग्यात्मक तथा अक्खड़ भाषा में की है, वह भी विशेष कर उन्हीं योगियों के प्रति जो केवल दिखावे के योगी थे और नाद और सींगी धारण कर 'अलख' लगाते फिरते थे।

नानक और योग साधना

नानक, उन की परम्परा के परवर्ती गुरु और कबीर तथा उनकी परम्परा के सीधे अनुयायियों के व्यक्तितत्व का विश्लेषण अन्तः साक्ष्य तथा बहिः साक्ष्य के ऐतिहासिक आधारों द्वारा करने पर पता चलता है कि सभी सन्तों की सामाजिक तथा पारिवारिक स्थितियाँ एक जैसी नहीं थीं। नानक के व्यक्तित्व में अन्तर्ग्रन्थियाँ नहीं थीं। वे सम्मानित क्षत्रिय परिवार की संतान थे। आर्थिक एवं पारिवारिक स्थिति भी उनकी किसी भाँति हीन नहीं थी। वह जन्मतः अन्तर्मुखी चरित्र के व्यक्ति थे। प्रत्येक प्रकार के बाहरी आडम्बरों की उनकी खण्डनात्मक उक्तियों की अन्तरात्मा कटु क्यों न हो, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति कोमल कलेवर का रूप लिए हुए है। पाखण्डों का खण्डन करते समय नानक की वाणी का स्वर सदा संयत रहा है। वह बाल्यकाल से ही 'विस्मादी अवस्था' के

अनुभवी थे। उन्हें यदि बालक राजयोगी कहा जाए तो अनुचित न होगा। उनका योग-साधना में प्रतिपादित हठ की प्रक्रियाओं में विश्वास नहीं है। नेवली, कर्म, आसन, कुण्डलिनी उत्थापन की प्रक्रिया आदि योग के उपायों के प्रति भी उनकी रुचि नहीं है। गोरखनाथ की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही नाथपन्थी योगी अपने सच्चे ध्येय से पतित होने लगे थे। कबार तथा नानक के युग में योग की साधना पाखण्ड की सीमा तक पहुँच चकी थी। नानक ने भक्ति से विहीन पाखण्डी योगियों की कतारें, घूम-घूम कर 'अलख' का आलाप करती देखी होंगी। सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन की दृष्टि से भी हठयोग गुरु नानक को अच्छा नहीं लगा होगा। इसी कारण उन्होने गृहस्थों के लिए भक्ति की साधना सर्वोत्तम मानी है। वह मानव के अहं (हउमे) को जीवन के पतन का प्रमुख कारण मानते हैं। उनकी यह दृढ़ आस्था है कि केवल भक्ति का उपाय ही 'अहं' के नाश का सर्वोत्तम उपाय है। इसी लिए भक्ति की भावना से विहीन प्राणायाम की साधना को उन्होंने लोहार की भट्ठी की धौंकनी के समान प्राणहीन तथा सारहीन माना है। उनका यह विश्वास है कि हठयोगी शारीरिक कृच्छ् साधना की कठोर तपस्या के अभिमान में 'अहं' के मल से ग्रस्त हो जाता है। काम, क्रोध एवं मोह आदि विरोधी तत्त्वों की शक्तियाँ उसके पवित्र तथा निर्लिप्त जीवन को पनपने एवं उभरने नहीं देतीं। नानक का मत है कि मल के आवरणों से युक्त मन परमात्मानुभूति के अमृत के आनन्द को नहीं पा सकता। सिद्धों को उपदेश देते समय उन्होंने इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किए हैं और उन्हें भक्ति-भावना द्वारा ईश्वर की ओर उन्मुख होने का उपदेश दिया है।[27]

हठयोग की साधना में इन्द्रियों के निग्रह को प्रथम स्थान प्राप्त है। नानक की आस्था केवल इन्द्रिय-निग्रह के लिए स्वीकृत कृच्छ्रसाधना में कदापि नहीं है। 'नाम-सिमरन' के साधन में उनका दृढ़ विश्वास है। उनका कहना है कि जीवन में सच्चे आनन्द की अनुभूति, 'नाम सिमरन' द्वारा ही मिल सकती है। नानक ने योगवाशिष्ठ के सिद्धान्त से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि केवल तपस्या एवं हठयोग आदि कृच्छ् साधनाएँ साधक के मन में उल्टे अहं के भाव को जन्म देती हैं। उनका विश्वास है कि 'ईश्वर की इच्छा में पूर्ण आस्था' के कवच को पहनकर भक्त 'अहं' अथवा 'हउमे' से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसी कारण वह रामनाम के तुल्य अन्य किसी प्रकार की पूजा आदि साधन या उपायों को स्वीकार नहीं करते[28]। कबीर ने भी नाम सिमरन के सामने हठयोग को अप्रधान या उसका सहायक अंग माना है।

गुरुनानक द्वारा ऋद्धियों-सिद्धियों का खण्डन

नाथपन्थियों में गोरख के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां एवं कथाएँ प्रचलित हैं। एतत्सम्बधी साहित्य में सिद्धियों, शक्तियों तथा चमत्कारों की विस्तृत चर्चाएँ मिलती हैं। सिद्ध-साहित्य भी इसी रीति से वर्णित चमत्कारों आदि से भरा पड़ा है। 'पातंजल योगदर्शन' में भी योग द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियों के उल्लेख हैं। निर्गुण संत इसे अहंबुद्धि का परिणाम, कारण

या हेतु मानते हैं। उनका विश्वास है कि सम्पूर्ण कृच्छ्र उपाय तथा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति माया-मोह के आकर्षण एवं उसकी वृद्धि का हेतु बनती हैं। गुरु नानक ने इन्हें लोक-एषणा तथा वित्त-एषणा को बढ़ाने वाली माना है। साधक तथा गृहस्थ दोनों ही चमत्कारों में भटक जाते हैं और साध्य की प्राप्ति उनके लिए असम्भव हो जाती है।[29] गुरु नानक ने पाखण्डी योगियों को सम्बोधित करते हुए कहा है, "झूठे पाखण्डों द्वारा जनता को विमोहित बनाकर धनसंग्रह तो किया जा सकता है परन्तु सत्यतत्व की उपलब्धि का यह उपाय कदपि नहीं है। गृहस्थ धर्म का परित्याग करने एवं उत्तर-दायित्वहीन बन जाने से पाखण्डी योगियों को पर स्त्री सेवन का अवसर भी मिला। नानक ने उन्हें विभूति रमाकर घूमने के स्थान पर ज्ञान की भिक्षा मांगने का उपदेश दिया है। बाजीगर की वेशभूषा का परित्याग कर नरक के गर्त में गिरने से बचने का सच्चा मार्ग भक्तिमार्ग बतलाया है। इस प्रकार के प्रकरणों की उद्भावना कर योग के सच्चे स्वरूप की व्याख्याएँ की गई हैं।[30]

संतों के विचार में सच्चा योगी वही है जो संसारी बने रह कर भी सांसारिक आकर्षणों में लिप्त नहीं होता। वे कन्था, दण्ड, भस्म, मुद्रा, सींगी आदि धारण करना योगी का लक्षण नहीं मानते। इसी प्रकार उनके विचार में देश-देशान्तरों में घूमने, तीर्थयात्राएँ करने, भस्म रमाकर श्मशान में सिद्धियों के पीछे भटकने से योग में सिद्धि नहीं होती और न ही इस प्रकार से प्राप्त होने वाली योग सिद्धि वास्तविक सिद्धि ही है। उन्होने कहा है कि माया में रहकर भी उसमें न डूबना, संशयों एवं भ्रमों से दूर रहना मन को विषयों की ओर न दौड़ने देना, सहज समाधि लगाना, जीवन्मृत होकर आचरण करना आदि ही योग का सच्चा स्वरूप है। निर्गुण संतों ने भेखी गुरुओं को सम्बोधित कर कहा है, "हे योगी, कानों में श्रम और लज्जा की मुद्राएँ धारण करो। दया का कन्था पहनकर परमात्म-प्रेम की किंगरी बजाओ। सत्य और सन्तोष की झोली पहनो। परमात्म चिन्तन का दण्ड धारण कर सुरति-सींगी द्वारा प्रभु के चिंतन में सतत लीन रहो। आगे चलकर इसी आशय की व्याख्या करते हुए बतलाया है, "बुद्धि के आसन पर बैठकर द्वैतकल्पनाओं का निराकरण करते हुए शरीर के नगर में नाम की भीख माँगो। सम्पूर्ण बाह्य साधन अहंभाव के हेतु हैं। परमात्मा के 'हुकम' को शिरोधार्य बनाकर अन्तःकरण को निर्मल बनाना चाहिए।[32] नानक ने योगी को संतोष की मुद्राएँ धारण करने, 'शरम' तथा प्रतिष्ठा की झोली पहनने, काया को काम की आसक्तियों में लिप्त न होने देने का बार-बार उपदेश दिया है[33]।

निर्गुणसंत योग साधना के विरोधी नहीं

निर्गुण संत अन्तः साधना के उपासक हैं। परमात्मभाव की उपलब्धि उन्होंने भी शरीर के भीतर ही मानी है। योगसाधना आत्म-चिन्तन तथा आत्मसाधना है। जब परमात्मा को निराकार एवं निर्गुण सत्ता मान लिया गया, उसी समय योग साधना की स्वीकृति में विश्वास करना पड़ा। अतः परमात्मा को निर्गुण मानने के कारण निर्गुणिए संत योग-साधना के विरोधी

नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि संतों ने भक्ति के विरोधी तथा भेखी योगियों के आचरण एवं व्यवहार का खण्डन किया है। विशेष कर गुरु नानक के बारे में जो यह कहा जाता है कि वह योग की साधना के विरोधी थे, उचित एवं संगत नहीं है। उन्होंने 'शब्द सुरति', 'सहज' या 'विहंगम' योग को स्वीकार किया है क्योंकि उनकी उक्तियों में कमल के उलटने और दशमद्वार में अमृत की धारा प्रवाहित होने का उल्लेख है।[34] वह समाधि की अवस्था में निरन्तर अनहदनाद की ध्वनि सुनाई पड़ने का जिकर भी करते हैं।[35] पातंजल योगदर्शन में विविध प्रकार की ध्वनियों—घण्टाध्वनि, रुन-झुन ध्वनि, एवं वीणा ध्वनि) का उल्लेख मिलता है[36]। नानक ने भी समाधि की अवस्था में इस प्रकार की ध्वनियों के सुनाई देने की बात कही है।[37] उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि दूसरे निर्गुणसंतों की भाँति नानक ने भी सहज योग को परमोत्कृष्ट माना है तथा योग के अन्य प्रकारों को अधिकारी साधक बनाने में सहायक स्वीकार कर लिया है। उनके योग को भक्ति या 'नाम सिमरन योग' कह सकते हैं।

सिक्ख गुरुओं के विचारानुसार सहज योग का अर्थ 'शून्यसमाधि में मन की सहज स्थिति' है।[38] उन्होंने सहजयोग की सिद्धि 'गुरुशब्द' की साधना द्वारा मानी है। नवमद्वार के बाद दशमद्वार के बन्द कपाट केवल 'गुरु शब्द' की सहायता से ही खुल सकते हैं।[39] कबीर की भाँति उन्होंने सहजयोग को उत्तम योग स्वीकार किया है। कबीर ने नाड़ी साधना को केवल शरीर शुद्धि तक ही सीमित रखा और साथ ही मात्र शरीर शुद्धि का खण्डन भी किया है। अन्त में उन्होंने 'शब्द सुरति योग' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया क्योंकि उनके विचार में यही असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति की उपलब्धि में उपयुक्त साधन है।

भेखी योगियों का खण्डन

'भेखी योगियों' के बाह्याडम्बर कबीर को अच्छे नहीं लगते थे। नाथपन्थियों की हठयोगसाधना में उलझ जाना भी उन्हें पसन्द न था। उन की योगाभ्यास की यात्रा चलती रही। अन्त में प्राप्त अनुभवों के आधार पर उन्हें कहना पड़ा कि :यदि आत्माराम नहीं पहचाना तो शरीर से नंगा रहने, चमड़े आदि से शरीर को ढाँपने से क्या लाभ ? ये सभी तो व्यर्थ के पाखण्ड हैं। यदि नंगा रहने से योग में सिद्धि की प्राप्ति होती तो वन का हिरण कभी का मुक्ति का अधिकारी बन गया होता। सिर मुँडवाने से यदि सिद्धियाँ प्राप्त होतीं तो भेड़ कब की स्वर्ग में चली गई होती। मात्र बिन्दु-रक्षा ही से यदि मोक्ष मिल सकता तो हिजड़ा कब का भवसागर को पार कर गया होता।[40] 'भेख' से यदि अपवर्ग प्राप्त होता तो शुकदेव को 'भेख' धारण करना चाहिए था और गोरख को मुद्रा, सींगी आदि पहनना चाहिए था। परन्तु उन्होंने यह सभी कुछ नहीं किया।[41] इस से स्पष्ट है कि निर्गुणसन्तों का विरोध योगियों के पाखण्ड से, केवल हठयोग की साधना से और योग द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियों एवं चमत्कारों में ही भटक जाने से है।

निर्गुणसन्त दिखावे को किसी भी क्षेत्र में पसन्द नहीं करते। इसी कारण उन्होंने

जहां कहीं पाखण्ड या दिखावे का आभास पाया, वहीं पर उसकी कटुशब्दों में आलोचना की है। कबीर अवधूत को ललकारते हैं, योगी को फटकार बतलाते हैं और तान्त्रिकों की योगसाधना की कटु आलोचना करते हैं। उन्हें 'शब्द सुरति योग' ही अच्छा लगा अतः हठयोग की साधना से वह विरत हो गए। सन्तों ने योग की नीरस साधना में प्रेम का अमीरस उंडेल कह रामरसायन की मधुमती भूमिका के आनन्द का अनुभव किया है। इसी को वे 'सच्चायोग' कहते हैं। नानक ने तो 'शब्द सुरतियोग' के प्रति अटूट आस्था का परिचय दिया है।[42] सन्त कन्था धारण करने वाले पाखण्डी योगियों को बार-बार यही उपदेश देते हैं और योग की सिद्धि के लिए प्रेम के हिंडोले पर झूलने के लिए प्रेरित करते है। कबीर ने कहा है कि उन्होंने चन्द्र एवं सूर्य की भट्ठी का परित्याग कर दिया है और सुषुम्ना की सहायता से रामरसायन की मदिरा की लिव में रत रहने लगे[43] हैं। सहजयोगी सन्तों का विश्वास है कि रामनाम की रसायन तैय्यार करने के लिए साधक को आत्मसमर्पण करना पड़ता है। कबीर ने अपना घर अपने हाथों से जलाया और दूसरों को सम्बोधित करते हुए कहा कि उन्हीं की तरह हाथ में 'मुराड़ा' लेकर जो पहले अपना घर जला ले वह उनके साथ चले। उन्होंने हठयोग की साधना से राम की प्राप्ति को असम्भव बतलाया और योग में प्रेम के रंग को आवश्यक माना। उन के विचार में योगी प्रेम का प्याला पी लेने पर स्वतः ही बिना नाड़ी-साधना के कुण्डलिनी को जागृत कर सकता है।[44] वह 'कथनी' की आपेक्षा 'करणी' के लिए उपदेश देते हैं। सन्तों ने पहले स्वयं नाम के योग का अमीरस पिया है, उन्मत्त हुए हैं और नशे के सरूर मे विभोर होकर सभी को अमृत पिलाने का दावा किया है।[45]

शब्द सुरति योग और लय योग में अभेद

निर्गुण सन्तों द्वारा प्रतिपादित 'शब्द सुरति योग' तथा 'लय योग' दो नहीं हैं। कुण्डलिनी साधना के उपरान्त आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर और आगे जाने की आवश्यकता का अनुभव उन्हें हुआ होगा। सहस्रारचक्र में कुण्डलिनी को लेजाकर अमृत पान करने के बाद भी उन्होंने तुरीयातीत होने के लिए 'लय योग' को सहायक माना है।[46] योग की साधना में भी सीढ़ी दर सीढ़ी ऊपर की ओर जाना होता है और सन्तों ने सम्भवत इसी लिए 'शब्द सुरतियोग' का अधिकारी बनने के लिए हठयोग आदि योग के दूसरे प्रकारों की चर्चा की है और एक सीढ़ी आगे बढ़ जाने पर पहली सीढ़ी तक पहुँचाने वाले साधन को गौण और आगे की यात्रा के साधन को प्रधान मान लिया है।[47] कबीर 'शब्दब्रह्म' के सिद्धांत को मानते हैं क्योंकि शब्दब्रह्म द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति की चर्चा उन्होंने की है।[48] संतों ने 'सुरतियोग' का जो उल्लेख किया है, वह 'शब्द सुरति योग' का ही दूसरा नाम है। बहिर्मुखी आत्मा की शब्दब्रह्म से ऐक्य की अनुभूति ही 'लय या शब्दसुरति योग' है। आत्मा के ब्रह्मरूप हो जाने को निरालम्ब अवस्था कहा है जो पूर्ण आनन्द की अवस्था है।[49] कबीर प्राण को भी आत्मा के रूप में वर्णित करते हैं और शायद उन

के इसी अनुभव के आधार पर कबीर पन्थियों में 'सात सुरतियों' के सिद्धान्त का प्रचार है। संहिताओं एवं उपनिषदों में वर्णित सप्तर्षि सात प्राणों के प्रतीक कहे जा सकते हैं।

निर्गुणसन्तों में नानक का 'शब्द सुरति योग' भिन्न प्रकार का है। वह शून्य का अर्थ अभाव (Emptiness) नहीं करते, अपितु उसे सर्वशक्तिमान् समर्थ एवं अनिर्वचनीय सत्ता मानते हैं। वही उनके विचार में सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है।[50] शून्य 'शब्दब्रह्म' का पर्याय है। इसी शून्य में आत्मा को मिला देना ही नानक का 'शब्दसुरति योग' है। शून्य सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन नानक एवं सिद्धों के बीच हुए वार्तालाप या गोष्ठियों में पाया जाता हैं।[51] शून्यावस्था त्रिगुणातीत अवस्था है। इसे निर्लिप्त, निष्काम तथा निश्चल अवस्था भी कह सकते हैं। संतों की शून्यावस्था पतंजलि की तुरीयावस्था से भिन्न नहीं है। इसे द्वन्द्वातीत अवस्था भी माना जाता है। नानक ने शून्यावस्था को मन की निश्चलावस्था नहीं माना क्योंकि वह आनन्द की भावात्मक स्थिति है। उन्होंने इसे 'अनाहत शून्य' या 'नाम शून्य' भी कहा है। यही 'निरंकारी अवस्था, या 'सच्चा खंड' है। डा० मोहन सिंह ने इस अवस्था की प्राप्ति को 'अनाहत' शब्द का सुनना बतलाया है।[52] इस प्रकार विशेषकर सिक्ख गुरुओं द्वारा प्रयुक्त 'शून्य' शब्द का अर्थ, सर्वभूतान्तरात्मा, सकल घट व्यापी, निरंकार ज्योति और 'शून्य ब्रह्म' मानना चाहिए। सिक्ख गुरु निरंकारी ज्योति के निवास स्थान को दशम द्वार कहते हैं।[53] गुरुपरम्परा में वर्णित दशम द्वार सहस्रदल कमल से अलग स्वतंत्र एवं मौलिक उद्भावना नहीं अपितु केवल नाम का ही भेद है। दशम द्वार अमृत का स्रोत है और गुरुपरम्परा में यहाँ से प्राप्त होने वाला अमरवारुणी हठयोग की साधना द्वारा कुण्डलिनी की उत्थापन क्रिया का फल नहीं बल्कि यह वही रामसायन है, जिसकी चर्चा कबीर ने की है। गुरु अमर दास इस अवस्था में सुनाई देने वाली 'निन्तर सहज-ध्वनि' की चर्चा करते हैं।[54]

सभी निर्गुणसंत और विशेषकर सिक्ख गुरु दशम द्वार में परम्परा के निवास की बात कहते हैं। उन के विचार में चिन्तन की सहायता से अपने आप को सम्पूर्ण विषयासक्तियों से ऊपर उठा कर, वास्तविक घर में अडिग आसन जमा लेना ही 'शब्द सुरति योग' है। वे यह मानते हैं कि सद्गुरु द्वारा दिए गए 'शब्द' से ही सच्चे योग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भक्तयोगी अनाहत शब्द सुनने का अधिकार प्राप्त करता है। 'नामसिमरन' ही शब्द सुरतियोग है। गुरु अर्जुनदेव ने कबीर की भाँति दशम द्वार में अनाहत शब्द तथा अमृत के होने का उल्लेख किया है। नानक ने दशमद्वार में अनाहदनाद का श्रवण किया है और वह इस बात का स्पष्टीकरण है कि उनकी आस्था, हठयोग की साधना में नहीं है। यह कहा गया है कि दशमद्वार के वज्रकपाट गुरु के 'शब्द' से खुलते हैं और अनाहत शब्द का साक्षात्कार होता है।[55] नानक ने नामसिमरन को समाधि-अवस्था की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना है।[56] यही 'शब्द सुरति योग' है।

निरर्गुण सन्त एवं स्वसंवेद्यज्ञान

'पातंजल योगदर्शन' में राजयोग सर्वोपरि योग माना जाता है। निर्गुणसंतों का सहजयोग राजयोगी ही है।[57] सहजयोगी को मुद्रा एवं आसन आदि हठयोग की साधना के उपायों की आवश्यकता नहीं रहती। संतों ने इस अवस्था को 'उन्मनी अवस्था' कहा है। उन्मनी अवस्था की सिद्धि के बाद साधक को बार-बार मन को नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो सहज भाव से ही मन का अपना वशवर्ती अथवा अनुचर बना लेता है। मन निष्क्रिय हो जाता है और साधक विषयों की मृगतृष्णा में नहीं भटकता। मन का वशीकरण दमन नहीं है। दमन के बिना ही जब मन वश में आ जाए, उसे ही सहजावस्था की स्थिति कह सकते हैं। सहजावस्था में शारीरिक साधना गौण एवं ज्ञान प्रधान हो जाता है[58] और हठयोग के साधनों की जरूरत नहीं रहती।[59] कबीर ने सहजयोग की चर्चा करते हुए कहा है, 'सहजयोगी निरति की मुद्रा तथा सुरति की सींगी धारण करता है और सहज शून्य में निवास का अधिकारी बन जाता है'। कबीर के अनुसार ऐसे भक्त ने सहजयोग की ब्रह्माग्नि में अपनी काया को जला दिया है। वह त्रिकुटी के संगम पर जागता है। कबीर की दृष्टि में वही सच्चा योगी अथवा योगीश्वर है।[60] मन की साधना सहजयोगी का स्वाभाविक तथा नित्य का क्रम बन जाता है और वह अपरोक्षानुभूति के राज्य में विचरण करता है। डा० बड़थ्वाल ने इसे निर्गुणिए संतों का 'सहजज्ञान' कहा है।[61]

निर्गुणसन्त नाम के अमृत के पान से प्राप्त होने वाले आनन्द को 'स्वसंवेद्यज्ञान मानते हैं।[62] ऐसी अवस्था में साधक या भक्त को परमात्मा के दर्शन, घर के भीतर होने लगते हैं।[63] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इसकी तुलना नदी की उस अवस्था से की है जब नदी अपने किनारों को छूती एवं साथ-साथ उन्हें ढ़हाती हुई चलती है परन्तु तेल की निरन्तर धारा की भाँति अबाधगति से सागर की ओर भी बढ़ती रहती है।[64] यही दशा सहजयोगी की भी है। वह प्रत्येक कर्तव्य कर्म करता हुआ भी शाश्वत जीवन की ओर अपने व्यष्टिजीवन को उन्मुख बनाए रखता है। गुरु अमरदास ने सहजयोग के बारे में कहा है, "रागात्मिका वृत्ति हृदय का प्रेम, निर्मल वैराग्य, दिव्य शांति, आदि गुण सहजयोग के कलेवर का निर्माण करते हैं। परमात्मा के गुणों का गान सहजयोग है। भक्ति सहजयोग है। परमात्मा के नाम के अमृत का पान करना सहजयोग है। सहजयोगी काल को भी अपना अनुचर बना लेता है।[65] सारांश यह कि भक्ति, वैराग्य, नामसिमरन आदि का सहजभाव से पालन करने को संतों ने 'सहजयोग' माना है। सहजयोगी हठयोग के साधनों का परित्याग कर आसन-साधन तप, सींगी और जप सभी कुछ मन ही को बना लेता है। मन साधना के सिवा उसे किसी अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। हठयोग को 'पिपीलिका' एवं सहजयोग को 'विहंगमयोग' कहने का आशय यही है। पिपीलिकाएँ यत्नपूर्वक वृक्षों के ऊपर चढ़ती एवं पुनः नीचे उतर आती हैं। विहंगम का स्वभाव चींटी के स्वभाव से बिल्कुल

विपरीत होता है। पक्षी का निवास स्थान वृक्ष की शाखा है, अर्थात् आकाश है, पृथ्वी नहीं। ठीक इसी तरह सहजयोगी या ध्यानयोगी शून्य गगन में विचरण कर, अमृत का पान करता हुआ शून्य गगन में ही अपना स्थायी बसेरा बनाता है। सहजयोगी की सुरति नेत्र के अष्ट कमल द्वारा ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर, त्रिवेणी में मज्जन करते हुए सहस्रदल कमल के मार्ग से ऊपर की ओर चढ़, भंवर-गुफा में प्रवेश करती है। हठयोगी आत्म (चैतन्य एवं ज्योतिर्मय मन) को पूर्णरूपेण वश में नहीं रख सकता। कबीर ने इसीलिए सहजयोग की शरण ली है।[66] नानक के विचार में सहज की अवस्था ही त्रिगुणातीत-अवस्था है। सहज की प्राप्ति का उपाय गुरु-शरण है और गुरु का उपदेश ही 'गुरु शब्द' है।[67]

संतों ने सहजावस्था की प्राप्ति के लिए माया तथा अहंकार के परित्याग का बार-बार ज़िकर किया है। कृत्रिम वेश धारण करने एवं केवल तपस्याप्रधान कृच्छ्र साधना की शरण लेने से सहजभाव की कदापि उपलब्धि नहीं होती। बनावटी दीनता और वैराग्य तथा बाहरी वेशभूषा सभी दुनियादारी है। क्योंकि भेखी योगी के मन की दुविधा किसी भी हालत में मिट नहीं सकती। वह इससे बन्धनों का और अधिक दास बन जाता है। आचार्य क्षितिमोहन सेन की दृष्टि में यह स्थिति अत्यन्त हानिकारक है।[68] संतों ने सहजावस्था की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाने का उपदेश दिया है :—(क) नाम का जाप तथा नामी के प्रति दृढ़ आस्था। (ख) सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव। (ग) सद्गुरु की प्राप्ति। (घ) 'गुरु शबद' के अनुसार आचरण। (ङ) सदा के लिए गुरु-भक्ति में लीन रहना।

निर्गुणसंतों की योगसाधना के प्रेरणास्रोत

योगसाधना द्वारा अलौकिक शक्तियों एवं सिद्धियों की प्राप्ति

भारतीय योगसाधना में स्वीकृत चमत्कारपूर्ण अलौकिक शक्तियों एवं सिद्धियों की मान्यता के आधार पर पूर्व तथा पश्चिम के कतिपय आलोचकों ने इसे अकृत्रिम निद्रा विधान (An Elaborate process of self hypnotism) बतलाया है। इन आक्षेपों के आधार का कारण तान्त्रिक योग-साधना में स्वीकृत गुह्य साधनाएं एवं अलौकिक सिद्धियों के चमत्कारों द्वारा, सामान्य जनता को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति का प्रचार दिखाई देता है। योग-साधना के अनुसार योगी समाधि की अवस्था से पूर्व, अनेक प्रकार की आलौकिक शक्तियों को प्राप्त करता है। यदि वह चाहे तो प्राप्त सिद्धियों का उपयोग भी कर सकता है। योग के दार्शनिक पक्ष एवं साधना-पद्धति के आदर्श एवं लक्ष्य की ओर ध्यान देने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि योग-साधना 'कृत्रिम निद्रा-विधान' कदापि नहीं है। उसका प्रधान लक्ष्य भौतिक शरीर में परमसत्ता की उपलब्धि अर्थात् दिव्य देह में आत्मा का विश्वात्मा से तादात्म्यलाभ करना है। इस अवस्था की प्राप्ति साधक की 'असम्प्रज्ञात समाधि' में प्राप्त होती है। पतंजलि आलौकिक शक्तियों और

सिद्धियों को समाधि की प्राप्ति के मार्ग में बाधा मानते हैं। सैद्धान्तिक रूप में योगदर्शन गोचर जगत् को इतने तक ही सीमित नहीं मानता जितना व्यक्ति अपनी दृष्टि से उसे देख रहा है। तदनुसार हमारी इन्द्रियों की शक्ति की पहुँच से भी आगे ब्रह्माण्ड का अनन्त विस्तार है। योगदर्शन में मनुष्य की 'अतिरिक्त इन्द्रियों की अपार सत्ता' के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट किया गया है। योगसाधना से प्राप्त अनुभवों के अनुसार इस नामरूपात्मक प्रकृति से परे एक और अव्यक्त एवं विस्तृत प्रकृति की सत्ता भी है। यदि हम आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं तो हमें अतिमानवीय शक्तियों की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। हम अपने दैनिक जीवन में अर्ध-निमीलित नेत्रों से ही देख पाते हैं एवं अर्द्ध-चेतन मन के स्तर तक संकल्प-विकल्प एवं विचार कर सकते हैं। योग के साधकों एवं चिन्तकों ने आत्मानुभूति के लिए एकान्त क्षणों और एकाग्रचित्त की स्थिति आवश्यक मानी है। अन्तर्दृष्टि या अन्तर्ज्ञान के अस्थायी प्रकाश-क्षणों को स्थायी प्रकाश से भरपूर करने की आवश्यकता है। योग-साधना द्वारा साधक इन्हीं गुह्य शक्तियों को प्राप्त करता है। वही अपनी इच्छा-शक्ति से व्यष्टि तथा समष्टि के हित के लिये इन शक्तियों को उपयोग में लाता है।

योग-सिद्धान्त तथा ईश्वर

'पातंजल योगदर्शन' को यौगिक-साधना एवं एतत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का व्यवस्थित निरूपण करने वाली प्रसिद्ध रचना माना जाता है। सांख्यदर्शन की विचारधारा 'योग' का दार्शनिक आधार है। सांख्यदर्शन में पुरुष और प्रकृति के स्वरूप के वास्तविक ज्ञान को जीव की 'कैवल्यदशा' कहते हैं। इस तत्त्व-विचार के साथ ही योग-साधना को कैवल्य की प्राप्ति में सहायक माना जाता है। सांख्य तथा योग की विचारधारा का निर्माण उपनिषदों के अध्यात्म-चिन्तन की आधार भूमि पर हुआ है, जिस का आरम्भ सिन्धु-सभ्यता के युग से जोड़ा जा सकता है। पतंजलि का समाधि का सिद्धान्त उपनिषदों तथा योग की परम्परा का ऋणी है। 'कठोपनिषद्' में योग की परमावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'योग इन्द्रियों मन और बुद्धि की सम या स्थिर-अवस्था'[2] का नाम है। कुछेक प्रधान उपनिषदों में तथा विशेषकर परवर्ती सम्पूर्ण योगोपनिषदों में योग-साधना की चर्चा को प्रधान स्थान प्राप्त है।[3] सांख्यदर्शन के अध्यात्म-सिद्धान्तों को योगदर्शन में स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शन का तत्त्वसिद्धान्त ही योगदर्शन का तत्त्वसिद्धान्त है। मूल प्रकृति विश्व की अव्यक्तावस्था है। जीव अनन्त माने गए हैं और प्रकृति को गुणधर्मा कहा है। वहीं पर पुरुष को शुद्ध चेतन, मलावरण रहित, शाश्वत और अपरिवर्तनशील मानकर, नाम रूपात्मक जगत् के संग के कारण द्वन्द्वों का अनुभव करने वाला और अनेक शरीर धारण कर, आवागमन के चक्कर में भटकता हुआ सिद्ध किया गया है। मधुसूदन सरस्वती द्वारा योगवाशिष्ठ के आधार पर मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और योग दोनों अलग-अलग साधन स्वीकार किए हैं।[4] योगवाशिष्ठ का यह भेद परवर्ती जान

पड़ता है। योग-मार्ग को सेश्वर सांख्य भी कहते हैं। यह नामकरण भी परवर्ती ही प्रतीत होता है। सांख्यों के दर्शन को योगसाधना का आधार स्वीकार कर लेने पर भी सांख्य के 'ईश्वर' तथा योग के ईश्वर को अभिन्न (Integral part) नहीं माना जा सकता। पतंजलि का 'ईश्वर' 'एक विशेष प्रकार की आत्मा' है, जिसे वह कर्म-विधान की सीमा से अतीत मानते हैं। वह नामरूपात्मक जगत् के बन्धन से परे है और किसी स्थिति में भी अपूर्णता उसका स्पर्श नहीं कर सकती।[5] वह सनातन आनन्द में निवास करता है। गुणों के दोष और आसक्तियों की पीड़ा से वह पूर्णतया मुक्त है। उसे सर्वज्ञ और ऋषियों का गुरु माना जाता है। वह देशकाल और कर्म की सीमा से अतीत और दयालु माना गया है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं, परन्तु सांसारिकों के प्रति दयाभाव से प्रेरित हो कर उन्हें ज्ञान (Scriptures) के माध्यम से आदेश देता है।[6]

पतंजलि ने 'ईश्वर' को सत्स्वभावस्वरूप माना है और उसे रज और तम के प्रभाव से मुक्त बतलाया गया है। वह अपूर्णता तथा सीमा से अतियामी है। सत्वगुण उसके आत्मप्रकाश का उपादान कारण है। सत्व को पतंजलि ईश्वराधीन मानते हैं।[7] योगदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार मुक्त आत्माएँ परमात्मा नहीं हैं क्योंकि वे एक बार बन्धन में आ चुकी होती हैं। ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न तथा ज्ञानस्वरूप माना जाता है। दयाभाव से प्रेरित होकर वह सत्व रूप में सारी सृष्टि में रम रहा है। यह उसकी अपनी इच्छा या लीला है। अपने शुद्ध स्वरूप में वह कर्मों से निर्लिप्त है। पतंजलि का विश्वास है कि महाप्रलय की अवस्था में प्रकृति अव्यक्त रूप धारण कर लेती है। सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति और पुरुष पुनः अव्यक्त से व्यक्त स्वरूप धारण करते हैं। उस समय ईश्वर भी गुरु के रूप में पुरुष और प्रकृति में समा जाता है। पतंजलि ने 'ओइम्' को 'ईश्वर' का प्रतीक माना है तथा उसके चिन्तन से मन (चित्त) के स्थिर एवं परमात्मस्वरूप बन जाने के सिद्धान्त की चर्चा की है।[8] संक्षेप में यही पतंजलि द्वारा स्वीकृत ईश्वर का स्वरूप है।

पतंजलि ने योगदर्शन में ईश्वर के जिस स्वरूप का प्रतिदान किया है, वही साधना का विषय है। तब तक की योग की साधना सांख्य-सिद्धान्त पर आधारित है। योग साधना के लिए ईश्वर का भावात्मक (Positive) स्वरूप मानना पड़ता है।[9]

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग की साधना का सीधा सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा की उपलब्धि की साधना से है। ईश्वर भक्ति (ईश्वर प्राणिधान) को ईश्वर की कृपा की एकता की प्राप्ति में सहायक माना गया है और मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वरकृपा एवं उस कृपा द्वारा प्राप्त सुविधाओं का सिद्धान्त ही विशेषकर अपनाया गया है। जिन मतों एवं धर्मों का ईश्वर की सर्वज्ञ सत्ता में विश्वास था उन्होंने योग की साधना को ईश्वर की प्राप्ति में सहायक माना तथा जिनका परमात्मा के परम, स्वतन्त्र एवं चैतन्य स्वरूप में विश्वास नहीं था उन्हों ने भी निर्वाण की प्राप्ति के लिए उसे प्रधान साधन के रूप में स्वीकार किया। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के सभी आम्नायों में प्रज्ञोपाय

की युगनद्ध दशा को कैवल्यावस्था स्वीकार किया है। ब्रह्म की परम सत्ता के सिद्धान्त का प्रभाव समूचे निर्गुण साधकों पर है। प्रत्येक आस्तिक धर्म के साधना पक्ष में जीव और ईश्वर की एकता के लिए योग की साधना को मान्यता प्राप्त है।

योगविद्या एवं उस का महत्त्व

आधुनिक युग का दार्शनिक भी यह मानने लगा है कि मानव-मस्तिष्क की शक्तियों से भी अधिक शक्तिशाली मानसिक शक्तियाँ हैं। मनोविज्ञान शास्त्रियों की धारणा भी ऐसी ही है। उनका कहना है कि मानव मन (चित्त) केवल प्रत्याक्षानुभूति की माध्यम ज्ञानेन्द्रियों ही का स्वामी नहीं, बल्कि वह उनकी अपेक्षा अतिरिक्त शक्तियों का स्वामी भी है।[10] इन अलौकिक एवं अज्ञात शक्तियों का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष अनुभव प्राचीन काल के भारतीय विचारकों एवं योगियों को प्राप्त था और अध्यात्म-विद्या इस प्रकार की शक्तियों के ज्ञान का साधन मानी जाती थी। सिद्धि प्राप्त योगी इन गुह्य शक्तियों से केवल परिचित ही नहीं थे बल्कि वे उन्हें प्राप्त भी थीं। उन्होंने योगसाधना द्वारा इतनी अधिक शक्ति प्राप्त कर ली थी कि मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सीमा के क्षेत्र से ऊंचे उठ कर वे अध्यात्म जगत के प्रत्यक्ष अनुभवों का साक्षात्कार कर सकते थे। साधना की शक्ति द्वारा वे इन्द्रियातीत सत्य की उस सीमा तक पहुँच चुके थे जो इन्द्रियग्राह्य नामरूपात्मक जगत् से भी परे है। अध्यात्म साधकों का विश्वास है कि अलौकिक दृष्टि की प्राप्ति के बाद ब्रह्माण्ड से परे का असीम विस्तार भी दृष्टिगोचर होने लगता है। अध्यात्म-साक्षात्कार की साधना से प्राप्त दृष्टि, अगोचर रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकती है। जन्मान्ध व्यक्ति को दृष्टि प्राप्त हो जाने पर जैसे उसे सम्पूर्ण इन्द्रियग्राह्य विश्व दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार अध्यात्मदृष्टि प्रत्यक्ष जगत के परे के असीम संसार का उद्‌घाटन करने में समर्थ होती है। अध्यात्मशक्ति द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि जिस विद्या द्वारा प्राप्त होती है, उसे योगविद्या कहते हैं।

योग की परिभाषा

योग शब्द युज् धातु से बना है। युज् का अर्थ 'जोड़''मेल'तथा'एकत्र-अवस्थिति' है। एकत्र अवस्थिति के उपायों, साधनों एवं कर्म आदि को भी योग कह दिया गया है।[11] योग शब्द के दो प्रधान अर्थ हैं। एक अर्थ विशेष अर्थात् सीमित है और दूसरा सामान्य है। सीमित अर्थ में योग शब्द का प्रयोग चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय के रूप में किया जाता है। सामान्य अर्थ की कहीं कोई निश्चित सीमा नहीं है। गीता को योगशास्त्र कहा गया है। गीता का प्रतिपाद्य विषय जीव की विभिन्न समस्याओं का समाधान एवं जीव को सत्कर्म की ओर प्रेरित करना है। यदि यह सत्य है तो योग-शास्त्र का अर्थ आचारशास्त्र एवं केवल योग का अर्थ आचार भी कर सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में 'सांख्य योगादि गम्यम्' के रूप में ज्ञेय की पहचान ज्ञान और अभ्यास के माध्यम से मानी गई है। गीता में योग शब्द का प्रयोग कर्म के अर्थ में भी हुआ है।[12] तिलक का विचार है कि गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय ही निष्काम कर्म है। परमात्मा की अद्‌भुत शक्ति को भी 'योग' कहते हैं।[13] अप्राप्त की प्राप्ति भी योग

है। जीव का परमात्मा से संयोग योग कहलाता है। वे साधन एवं उपाय भी योग कहलाते हैं जिनकी सहायता से जीव नामरूपात्मक जगत् के प्रति आसक्ति जनित द्वन्द्वों से अपनी रक्षा करता है। योग साध्य की प्राप्ति का उपाय है। पतंजलि की योग की परिभाषा विशिष्ट अर्थ से ही सम्बन्धित है। वह आत्मा एवं मन की विशिष्टप्रक्रिया है। उस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति शुद्ध एवं व्यवसायात्मिका बुद्धि की उपलब्धि का अधिकारी बनता है और मन को संकल्प-विकल्प आदि गुणों से रहित बना कर परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है।[14] योग की सहायता से जीव (मानव) अपनी अन्त-वृत्तियों को अनुशासित कर, आत्मसमर्पण द्वारा परमात्मा का अनुभव कर सकता है। गीता में योग को 'प्रयोग' एवं 'मुक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए भगवान् ने स्वयं बतलाया है कि विचारशील पुरुषों को इस प्रकार के योग (युक्ति) का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, जिस से वह सांसारिक कर्म करता हुआ भी उन में आसक्त न हो 'तस्मद् योगाय युज्यस्व'[15] में योग का अर्थ 'उपाय' किया है।[16] तिलक ने गीता में अस्सी बार योग एवं योग से निर्मित सामासिक शब्दों के प्रयोग की गणना का उल्लेख किया है।[17] उन का कहना है कि अस्सी में से पाँच बार योग का प्रयोग पातंजल योग के अर्थ में हुआ है।[18] भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि में प्रयुक्त 'योग' शब्द का अर्थ भी उपाय है। योग का सूक्ष्म अर्थ भक्ति आदि साधनों द्वारा 'आत्मा और परमात्मा का ऐक्य, भी कर सकते हैं। याज्ञवल्क्य ने 'आत्मा और परमात्मा के मिलन' को योग कहा है[19]। योग चित्तवृत्तियों के निरोध का साधन भी है और आत्मा और परमात्मा की मिलनावस्था रूप सिद्धि का नाम भी।[20] नाम एवं रूप अपने वास्तविक स्वरूप में हर समय हमारी इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते। आँख जिसे प्रत्यक्ष करती है, आवश्यक नहीं कि उस वस्तु का वही रूप हो क्योंकि इन्द्रियातीत सत्य का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। उस ज्ञान के साधन एवं प्राप्ति के नियम अलग हैं। उन्हें प्राप्त कर लेने पर ही साधक दिव्य दृष्टि का अधिकारी बन सकता एवं अनभिव्यक्त शक्तियों (Hidden Talents) का अधिकार प्राप्त करता है। योग द्वारा एकाग्रता की शक्ति प्राप्त होती है। साधक अपने मन को संकल्प-विकल्प से शून्य बना सकता है तथा योगसाधना द्वारा अनभिव्यक्त शक्तियों के मूलस्रोत पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। शरीरस्थ आत्मा के पूर्ण परिचय के बाद परमात्मा से ऐक्यानुभूति की अवस्था की उपलब्धि योग से ही सम्भव होती है।

पातंजल योगदर्शन एवं परम्परा

पतंजलि ने योगसाधना को दार्शनिक रूप प्रदान किया है। उनसे पहले ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा उपनिषदों में योगविद्या के निर्णायक सूत्र बिखरे हुए रूप में विद्यमान थे तथा उनकी परम्पर सिन्धु सभ्यता की आराधना पद्धति तक मानी जाने लगी है। शरीर और मन की शक्तियों को अनुशासन में लाकर द्वन्द्वों से मुक्तिलाभ करने की साधना उस युग के धार्मिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुकी थी क्योंकि ऋग्वेद में समाधि के सांकेतिक वर्णन मिलते हैं।[21]

अथर्ववेद में दैवीय शक्तियों की प्राप्ति के उल्लेख हैं। वहीं पर तपश्चर्य द्वारा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति के प्रसंग भी मिलते हैं।[22] ऋग्वेद में दैवी शक्तियों के चिन्तन को भक्तिसाधना जैसा नाम प्राप्त है।[23] उस समय तपस्या भी आचार का अंग मानी जाती थी। धीरे-धीरे सनातन तत्त्व के चिन्तन के लिए मन की एकाग्रता को महसूस किया जाने लगा था। विषयासक्तियों की ओर से वैराग्य धारण करने के उपदेश भी दिए गए हैं। यह प्रभाव आर्येतर समाज का था जो आर्यजाति में अन्तर्भुक्त हो गया था।

उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार के लिए मानसिक एकाग्रता, मनन एवं चिन्तन को सहायक साधन कहा गया है।[24] तपस्या ब्रह्मचर्य की भाँति ही सत्यतत्त्व की उपलब्धि में सहायक मानी गई है।[25] सांख्य एवं योग के आधार भी उपनिषदों में मिलते हैं। कठ, श्वेताश्वतर तथा मैत्रयाणी उपनिषदों में यौगिक साधना के उल्लेख हुए हैं। पातंजल योग के अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग कठ, तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी उपनिषदों में मिलता है।[26] कठोपनिषद् में मन, बुद्धि एवं अन्य इन्द्रियों के अनुशासन को योग कहा गया है।[27] मैत्र्युपनिषद् में योग के छः प्रकारों का उल्लेख है। इसमें दी गई योग की परिभाषा पतंजलि की परिभाषा से मिलती है।[28]

बौद्ध धर्म और योगसाधना

बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से पता चलता है कि बुद्ध स्वयं भी योगी थे। फिर भी उन्होंने योगसाधना द्वारा प्राप्त होने वाली शक्तियों एवं सिद्धियों का उपयोग सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए उचित स्वीकार नहीं किया है। वह ऋद्धियों एवं सिद्धियों आदि को 'निर्वाण' की उपलब्धि में बाधक मान कर उन के प्रति आकर्षण का खण्डन करते हैं। 'ललितविस्तार' के कई प्रसंगों से प्रतीत होता है कि बुद्ध के जीवन काल में ही तपस्या के कई रूप साधकसमाज में प्रचलित थे।[29] उनके गुरु 'आलार' माने हुए योगी बतलाए जाते हैं।[30] बौद्धधर्म के सुत्तसाहित्य में योगसाधना के वर्णन हैं। 'मज्झिम निकाय' में ध्यान की चार अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।[31] जिस की तुलना योगदर्शन में वर्णित साधना की चार अवस्थाओं से की जा सकती है।[32] बौद्धधर्म के योगाचार सम्प्रदाय में यौगिक प्रक्रियाओं के अनुरूप बौद्ध-सिद्धान्तों की व्याख्या एवं विवेचन हुआ है। महायान के आम्नायों में योगसाधना का प्राधान्य है।[33] पातंजल योगदर्शन के भाष्यकार हरिहरानन्द का कहना है कि बौद्धधर्म में पंचस्कन्ध के ज्ञान को ही सम्यग्दर्शन माना गया है। जैन दर्शन में भी वैराग्य युक्त समाधि-विशेष को मोक्ष बतलाया गया है।[34]

तान्त्रिक सम्प्रदायों में योग साधना का स्वरूप

तान्त्रिक साधना : सामान्य परिचय

तान्त्रिक साधना का प्रधान आधार योग सिद्धान्त है। बौद्धग्रन्थों में योग-बल से शरीर के भीतर ही सत्य (बोधिचित्त, महासुख सहज या समरसावस्था) की उपलब्धि को सम्भव माना है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि ईश्वर हमारे शरीर के भीतर निवास करता है एवं शरीर ही उसे प्राप्त करने का

माध्यम है। युगनद्ध-अवस्था की उपलब्धि तान्त्रिक साधना का अन्तिम साध्य है। तान्त्रिक दर्शन (बौद्ध भी) परम सत्य को शून्य या अभावात्मक सत्ता नहीं मानते। वे उसे शरीर एवं विश्व में समान भाव से रमा हुआ बतलाते हैं। हठयोगी साधक चक्रों और नाड़ियों को विभिन्न तत्त्वों के प्रतीक मानते हैं। और यह स्वीकार करते हैं कि वे तत्त्व या शक्तियां इसी शरीर में अव्यक्तावस्था (In latant Condition) में रहती हैं। उन्हें साधक योग की साधना द्वारा क्रियाशील (Active) बना, परम तत्त्व की उपलब्धि की साधना में सहायक बना लेते हैं। तान्त्रिक साधना का यही रहस्य या साध्य है। कबीर एवं उनके परवर्ती संत, सिद्धों में प्रचलित योग की साधना को स्वीकार करते है यद्यपि इनके दार्शनिक सिद्धान्त उनके सिद्धान्तों से भिन्न प्रकार के हैं। सिद्धों की भाँति इन्होंने भी दम्भी एवं पाखण्डी योगियों तथा अन्य धर्मों के साधकों के अन्ध-विश्वासों की घोर निन्दा एवं खण्डन किया है। नानक तान्त्रिक साधना के कई पक्षों का विरोध करते हैं। इस प्रकार का विरोध प्राय: सभी निर्गुणसंतों ने किया है। प्रस्तुत प्रकरण में बौद्धों, वैष्णवों, नाथपन्थियों और मुसलमान योगियों के साम्प्रदायों की चर्चा की जाएगी, जिन की साधनाएं विशेष रूप से योग प्रधान हैं।

बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय

बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त बौद्धधर्म की दीक्षा के द्वार सभी के लिए खोल दिए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके विचारों की नयी व्याख्याएं की गईं। विभिन्न प्रकार के स्वभावों, रुचियों एवं योग्यताओं के लोग अपने अपने संस्कारों के अनुकूल साधनामार्गों का निर्माण करने लग पड़े। बौद्धधर्म में तान्त्रिक साधना के प्रचार के प्रवेश का यही मुख्य कारण है। यही स्थिति वैष्णव धर्म की भी हुई। वह मूलत: आर्य धर्म तो था नहीं तथा दूसरे धर्मों के तत्त्व उस में भी पर्याप्त मात्रा में प्रवेश प्राप्त कर चुके थे। इन कारणों के अतिरिक्त अपने-अपने धर्म के प्रचार एवं प्रसार के ध्येय के कारण भी वैष्णव एवं बौद्ध धर्म ने एक दूसरे की विशेषताओं को स्वीकार किया। स्वीकृति का यह प्रभाव दोनों धर्मों के तान्त्रिक रूप पर ही अधिक दिखाई देता है।

बौद्धों के परवर्ती यौगिक सम्प्रदायों में प्रधान सम्प्रदाय सहजिया सम्प्रदाय है। उन में भी बौद्ध सहजिया संप्रदाय का विशेष स्थान है। बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय परम तत्त्व की उपलब्धि विशिष्ट प्रकार की यौन साधना (Sexo Yogic) या प्रक्रिया द्वारा सम्भव मानते हैं। यौन-साधना ने उस समय के विविध सम्प्रदायों को प्रभावित किया है जिन्हें गुह्य सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

हिन्दू तान्त्रिक-साधना में परम तत्त्व के शुद्ध स्वरूप को तटस्थ तत्त्व कहा गया है और उसके निवृत्ति और प्रवृत्ति दो पक्ष माने गए हैं। प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार परमतत्त्व का निवृत्ति पक्ष अक्रिय है और प्रवृत्ति पक्ष सक्रिय। ये ही शिव और शक्ति हैं। शिव को शुद्ध प्रकाश एवं विमर्श स्वरूप माना गया है। वह स्थिर तत्त्व है। शक्तितत्त्व को विश्व की शक्ति (Cosmic Energy) बतलाया जाता है। वह

परमसत्य का सक्रिय पक्ष (Active Aspect) है। केवल शक्ति या केवल शिव अलग-अलग स्थिति में परम सत्य नहीं हैं। तान्त्रिक विचारधारा के दर्शन की यही आधार-भूमि है। तदनुसार एक में दो का निवास है जो परस्पर अभिन्न तथा अविलाज्य हैं। शिव और शक्ति का मिलन पूर्ण तटस्थता एवं असीम आनन्द का हेतु माना गया है। शिव-शक्ति का सामरस्य ही विभिन्न परिस्थितियों (Conditions) में दृश्य जगत की उत्पत्ति का हेतु है। माया शक्तियुक्त शक्तितत्व (Cosmic Energy) प्रवृत्ति परक स्थिति अर्थात् शिव-शक्ति के मिलन की अवस्था में, दृश्य सृष्टि के निर्माण का कारण बनता है। इससे भिन्न रूप में जिस समय शक्ति, शिव की ओर बढ़ती है तब उनकी मिलन स्थिति पूर्ण तटस्थता (जिसमें पूर्ण आनन्द ही आनन्द है) की अवस्था की उपलब्धि का कारण बनती है। प्रथम कोटि का शिव-शक्ति का मिलन बन्धन का कारण है और दूसरा मोक्ष का हेतु।

तान्त्रिकों का यह अटूट विश्वास है कि इस शरीर में शिव और शक्ति दोनों का निवास है। शिव का निवास-स्थान सहस्रार चक्र में और शक्ति का निवास स्थान मूलाधार में माना जाता है। साधक जब मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को उठा कर सहस्रार चक्र में शिव के पास ले जाता है तभी मोक्ष के द्वार का उद्घाटन होता है। शिव का स्थान शरीर के दाएं भाग में और शक्ति का बाएं भाग में माना गया है। इन्हीं को प्राणापन भी कहा है। इसे अर्धनारीश्वर भी कहते हैं। दाईं ओर की नाड़ी पिंगला है और बाईं ओर की नाड़ी इड़ा है। पिंगला से प्रवाहित प्राणवायु शिव तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है और इड़ा, से प्रवाहित प्राण वायु शक्तितत्व की प्रतीक है। साधक का लक्ष्य विविध प्रकार के यौगिक उपायों द्वारा दोनों नाड़ियों की क्रियाओं को निःस्वभाव बनाकर उन्हें सुषुम्ना नाड़ी में नियोजित करना बतलाया गया है। सुषुम्ना की निःस्वभावता सुषुम्ना नाड़ी ही के मार्ग द्वारा प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार स्त्री शक्ति का और पुरुष शिव का प्रतीक है। कठोर संयम को अपना कर स्त्री एवं पुरुष के पारस्परिक सम्भोग से सम्बन्धित यौगिक साधनों द्वारा वीर्य एवं रज का निरोध करने की क्षमता वाला साधक परमावस्था का अधिकारी बन सकता है। इसी को परम सत्य की सहजावस्था, स्वभाव या स्वरूप कहा है।

बौद्धसहजिया सम्प्रदाय में परम तत्त्व को 'बोधिचित्त' के अभिधान से भी सम्बोधित किया जाता है। सहजिया बौद्धों का दर्शन, अन्तःसाधना से सम्बन्धित एवं हीनयानी बौद्ध धर्म के दर्शन से भिन्न प्रकार का है। 'बोधिचित्त' ही सहजिया योगियों का 'सहज' है। उनके सिद्धान्तानुसार सहजतत्त्व ही इस ब्रह्माण्ड और पिण्ड के भीतर का व्यापक-तत्त्व (Innate Nature) है। बोधिचित्त शून्यता और करुणा की एकीकृत स्थिति है। शून्यता की व्याख्या अस्ति नास्ति के शून्यभाव के पूर्ण ज्ञान से की जाती है। प्रज्ञा-सिद्धान्त में परमसत्य को तटस्थ पक्ष माना गया है। करुणा परम सत्य का सक्रिय रूप (Dynamic Prirciple) है। करुणा भाव के सक्रिय पक्ष को जीवों को मुक्ति की ओर ले जाने वाला बतलाया गया है। करुणा उपाय, (The Means) है। सहजिया

बौद्धों का विश्वास है कि करुणा विज्ञप्ति मात्रता (Pure Consciousness) के रूप में परमतत्व के निवृत्ति पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है एवं उपाय (Active Prinliple) प्रवृत्ति पक्ष का। हिन्दू तन्त्र ग्रन्थों में जो स्थिति शिव और शक्ति की है, वही स्थिति बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय में प्रज्ञा एवं उपाय की है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू तन्त्रों में जिसे शिव कहा गया है वह यहाँ पर उपाय है और शक्ति प्रज्ञा है। हिन्दू तन्त्रों में शक्ति प्रवृत्ति पक्ष है परन्तु बौद्ध-सहजिया-साधना में प्रज्ञा निवृत्ति पक्ष है। शरीर को परमतत्व का निवास स्थान और सत्योपलब्धि का साधक स्वीकार किया जाता है। सहजिया बौद्धों की साधना पद्धति में शरीर में चक्रों की स्थिति या उन के नाम भिन्न प्रकार से दिए गए हैं। बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय में प्रत्येक स्त्री में प्रज्ञा का निवास माना जाता है और उपाय का प्रत्येक पुरुष में। पुरुष का वीर्य उपाय का प्रतीक है और स्त्री का रज प्रज्ञा है। तान्त्रिकों ने मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रत्येक स्त्री में पुंसत्व और प्रत्येक पुरुष में स्त्रीत्व के अंश की कल्पना की है। शरीर के भीतर प्रज्ञोपाय मिलन का यही मनोवैज्ञानिक आधार है। स्त्री और पुरुष के सम्भोग की साधना अत्यन्त कठिन साधना है।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय एवं योगसाधना

वैष्णव सहजिया साधक तान्त्रिक योगी हैं। बौद्ध सहजियों का योग प्रधान रूप से शरीर की आधारभूमि पर स्थित है, परन्तु वैष्णव सहजिया सिद्धों के योग का आधार अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक है। इस का कारण वैष्णव-धर्म का भक्ति प्रधान होना है। बौद्धसहजिया योगियों ने जिस तरह बोधिचित्त को सहज बतला कर उसे शरीर और विश्व का मूल आधार माना है, इसी तरह वैष्णव सहजिया सिद्धों ने प्रेम को बोधिचित्त का स्वरूप बतलाया है। उन का प्रेम सहज है और यही परम तत्व है। वही लीला वश अपने आप को प्रेमी और प्रेमिका के रूप में विभक्त करता है। भोक्ता और भोग्य वही स्वयं है। इसे केवल आत्माभिव्यक्ति या आत्मानुभूति के दो पक्ष माना सकते हैं। दो का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। वैष्णव सहजिया सिद्धों का विश्वास है कि सहज (परम तत्व) अपने आप को रस (Love) और रति (The exciting cause of love and the sport of love) के रूप में विभाजित कर लेता है। कृष्ण और राधा इसीके प्रतीक हैं एवं सांसरिक पुरुष और स्त्री कृष्ण एवं राधा के प्रतीक माने जाते हैं। रस और रति को गोलोक में मानव शरीर में कृष्ण और राधा माना गया है।

बौद्ध सहजिया सिद्धों की भाँति वैष्णव सहजिया सिद्धों का कहना हैं कि साधक या साधिका को शारीरिक धर्मों से ऊपर उठ कर पहले अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए। राधा एवं कृष्ण इसी स्वरूप के साकार पक्ष हैं। यह सम्भोग प्रतीक-सम्भोग है। अपने आपको कृष्ण एवं राधा मान कर किए गए संयोग का सुख परम कोटि की स्थिति की आध्यात्मिक प्रतीति है। वैष्णव सहजिया सिद्धों की यही साधना है। वे इसे वास्तविक साधना की निर्माण-स्थिति मानते हैं। डा० दास गुप्ता ने इस अवस्था की पतंजलि की

समाधि की अवस्था से तुलना दी है।[35] हमारे विचार में इसे सम्प्रज्ञात समाधि को अवस्था मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था इस से भी बहुत ऊपर की अवस्था है। समाधि की अवस्था में मन संकल्प-विकल्प से शून्य हो जाता है। यही योगी की परमतत्त्व स्वरूप में स्थिति की अवस्था है। वैष्णव-सहजिया योगी ज्ञाता-ज्ञेय, विषयी और विषय की प्रतीति की अभावावस्था को स्वरूप ज्ञान मानते हैं और इसी को 'सहज' का अभिधान भी देते हैं।

नाथ सम्प्रदाय एवं योग साधना

कई विद्वानों ने नाथ सम्प्रदाय का अविर्भाव काल बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय के आविर्भाव काल के साथ-साथ माना है।[35] नाथ सम्प्रदाय के आविर्भाव काल की निश्चित तिथि कुछ भी हो, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि नाथ सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत दार्शनिक विचारधारा बहुत पहले से ही विद्यमान थी। इसी कारण इसे शैव सम्प्रदाय का विकास माना जाता है।

नाथ सम्प्रदाय के दो मूल सिद्धान्त हैं। अन्तिम साध्य को 'अद्वैत स्थिति की प्राप्ति' माना गया है। इसके लिए उन्होंने दो तत्त्वों की सत्ता मानी है। पहला तत्त्व सूर्य है। सूर्य को उन्होंने कालाग्नि (Principle of Destruction through the process of Death and Decay) माना है। दूसरा तत्त्व चन्द्र है। इसे वे अनश्वरता का प्रतीक मानते हैं। नाथ योगियों ने अद्वैत की प्राप्ति इसी शरीर के माध्यम द्वारा सम्भव मानी है। अद्वैत-सिद्धि को वे माहेश्वर पद का नाम देते हैं। माहेश्वरपद-लाभ का साधन सूर्य तथा चन्द्र का परस्पर संयोग माना गया है। अमरत्व तथा दैवी शरीर की उपलब्धि के लिए वे हठयोग की विद्या को प्रधान उपाय मानते हैं। नाथ सम्प्रदाय की हठयोग की साधना को रसायन सम्प्रदाय की साधना का विकसित रूप भी माना जाता है।[36] रसायन सम्प्रदाय में स्वीकृत औषधि-विद्या को नाथ योगियों ने हठयोग विद्या में परिणत कर दिया है। हठयोग साधना में काया की साधना की प्रधानता है। काया-साधना द्वारा पहले स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर में परिवर्तित किया जाता है। तदनन्तर सूक्ष्म शरीर को भी अमर एवं दैवी शरीर में बदल दिया जाता है। दैवी शरीर जरा-मरण के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त शरीर है। नाथ सम्प्रदाय में चन्द्र को अमृत का स्थान माना गया है। चन्द्र स्थित अमृत का स्थान सहस्रार चक्र है। यही अमृत है जो स्थूल शरीर का सार तत्त्व है। यही अमृत रूप में चन्द्र में स्थित है। योगी उसकी रक्षा करता हुआ शरीर को पूर्ण युवा एवं अमर बना लेता है। यह सोमरस चन्द्र लोक से एक-एक बूंद के रूप में नीचे की ओर झरता रहता है। सूर्य-कालाग्नि इसे तत्काल सोख लेती है। इसे सूर्य से न बचा सकने के कारण सामान्य मानव वार्द्धक्य तथा मृत्यु से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। सोम को नाथयोगी 'महाक्षार' मानते हैं। हठयोग साधना द्वारा वे उसे कालाग्नि से बचा लेते हैं।

नाथपन्थियों का विश्वास है कि हठयोग की साधना साधक को केवल अलौकिक शक्तियों का अधिकारी नहीं बनाती, बल्कि स्थूल शरीर को दैवी देह में भी बदल देती है

और योगी अजर और अमर हो जाता है। नाथ-योगियों का यह भी विश्वास है कि देवता स्वर्ग के देवताओं की भाँति दैवी शरीर रखते हैं, क्योंकि वे अमृत पान करते हैं। उनके विचार में अमृत इसी शरीर के भीतर है और सम्पूर्ण शरीर का सार है। अमृत के प्रवाह को बढ़ाकर उसको हठयोग साधना के माध्यम से पान किया जा सकता है। सोम को कालग्नि से बचाने के लिए हठयोग की साधना का सहारा लिया जाता है।

परवर्ती उपनिषद् योगवाशिष्ठ और सहजयोग

शब्दसुरति या सहजयोग

संतसाहित्य में जिस शब्दसुरति एवं सहजयोग का वर्णन है, वह जीवन्मुक्त व्यक्ति के जीवन की सहज चर्या ही का नाम है। ज्ञानमार्ग में भी अद्वैत अवस्था की प्राप्ति के लिए सहज योग की साधना का विधान है। सहजयोग, हठयोग आदि अन्य यौगिक साधनाओं जैसा नहीं है। यह मन की साधना है; अर्थात् मन को पूर्णरूपेण शुद्ध बनाने की साधना। अतः संतों के 'शबदसुरति' एवं 'सहजयोग' के सही ज्ञान के लिए 'ज्ञानयोग' की जानकारी आवश्यक है।

सहजयोग की प्राप्ति के लिए मानसिक एवं बौद्धिक प्रयत्नों द्वारा आत्मा को बन्धन में डालने वाले कारणों का निराकरण करना पड़ता है। उसके लिए योग-वाशिष्ठ-कार एवं परवर्ती उपनिषदों (दस प्रधान उपनिषदों के अतिरिक्त) में साधक की चार प्रधान योग्यताओं अर्थात् कर्तव्यकर्मों का अनुष्ठान[37] तथा विवेक[38], वैराग्य[39] और शांति[40] साधक की इन चार योग्यताओं का विधान है। इसे ब्रह्मयोग की तैयारी कहा गया है। वाणी-संयम, अपरिग्रह एवं एषणाओं का त्याग ब्रह्मयोग या ब्रह्मजिज्ञासा को जन्म देते हैं और तदुपरान्त साधक सहजयोग के लोक में प्रवेश करता है[41]। इसी तरह सहज या ब्रह्मयोगी के लिए लोक वासना, शास्त्र वासना तथा देह वासना के प्रति अनासक्ति-भाव बनाए रखने का उपदेश भी दिया गया है। उसे भय, क्रोध. आलस्य निद्रा एवं जागरण आदि से दूर रहना चाहिए[42]। सिद्धि की प्राप्ति में यही प्रधान अवरोधक शक्तियां हैं। मन की शुद्धि सहजयोगी के लिए अत्यावश्यक है। इसके लिए सतत एवं सुदीर्घ अभ्यास की जरूरत है क्योंकि जन्म जन्मान्तर की वासनाओं का क्षय पूर्णतया संभव नहीं है।

अशुद्ध मन सर्वप्रधान अवरोधक शक्ति है। इसी कारण इसे इस्पाती लोहे से उपमित किया जाता है। अध्यात्म-ग्रन्थों में सत्संगति द्वारा मन को शुद्ध बनाने का विधान है।[43] मन के अशुद्ध संकल्प-विकल्पों को शुद्ध संकल्प-विकल्पों में बदल कर ही आत्म-स्वरूप में स्थित करने के योग्य बनाया जा सकता है।[44] मन के आवरणों को प्रयत्न द्वारा दूर करने के बाद ही जीवन्मुक्ति या सहयोग की उपलब्धि सम्भव है।[45] योगोपनिषदों में साधक को कहा है कि उसे शिशुवत् निष्काम कर्म करने चाहिए ताकि उसका मन शुद्ध होता रहे।[46] अमनसिकार अवस्था में ही मन में परमात्मा का साक्षात्कार होता है।[47]

ब्रह्मज्ञानी या सहजयोगी संसार का परित्याग नहीं करते बल्कि सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के भाव का परित्याग करते हुये द्वन्द्वों से मुक्ति की प्राप्ति की चेष्टा

करते हैं ।[48] अज्ञानी के लिये संसार दुःखों का कारण है परन्तु ज्ञानी के लिये नहीं ।[49] विश्व अंधेरा है परन्तु अन्धे के लिये, आंखों वाले के लिये नहीं ।[50] ज्ञान के नेत्रों वाला संसार में कंवल की भाँति रहता है क्योंकि पूर्ण विरक्ति ही उसकी सांसारिकता है ।[51]

'सहजयोग' का अर्थ मन एवं बुद्धि आदि इन्द्रियों पर सहज विजय तथा वासनाओं की विरक्ति में आसक्ति अर्थात् पूर्णतया अमनस्किार दशा की प्राप्ति के बाद[52] प्रभु के प्रति पूर्ण आत्मार्पण का भाव है ।[53] ऐसी स्थिति में सहजयोगी का 'अहं' विश्वात्म-भाव का रूप धारण कर लेता है ।[54] अहम् जीव की शक्तिशाली अनादि वासना है । परमात्मसाक्षात्कार के बाद सहजयोगी को साधना के लिये मूर्ति आदि प्रतीकों की उपासना की आवश्यकता नहीं रहती ।[55] उस के लिये वन घर है और घर ही वन है ।[56] अशांत मन वालों के लिए संसार कालग्नि है और शांत मन वालों के लिये सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा है ।

सहज योगी को जीवन्मुक्त प्राणी कहा है क्योंकि उसकी आत्मा असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्रवेश प्राप्त कर चुकी है । उसके अहम् का परमात्मचैतन्य के रूप में विस्तार हो जाता है । योगवाशिष्ठ, योगोपनिषदों तथा अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों में योग की साधना को सहजयोग की प्राप्ति में सहायक एवं करणीय माना गया है। हठयोग पिपीलिका योग है जो सहजयोगी का साध्य नहीं है। उसे विहंगमयोग का साधक भी कहते हैं । वह कुण्डलिनी योग के अभ्यास की अपेक्षा नामयोग एवं शब्दसुरति योग को महत्त्व देता है। सहज योगी भी साधनों की अवहेलना नहीं करता अपितु उन्हें अपनाता है । मुख्य-मुख्य साधन ये हैं :—1. शुभेच्छा, 2. विचारणा, 3. तनुमानसी, 4. सम्पत्ति, 5. अस्त्र अनासक्ति, 6. पदार्थभावना, 7. तुरीया। योग से सम्बन्धित उपनिषदों, योगवाशिष्ठ, विचारचूड़ामणि तथा अवधूतगीता आदि में इन साधनों के बारे में विस्तार सहित प्रकाश डाला गया है ।

सहजयोग की प्राप्ति के उपरान्त ब्रह्मनिष्ठ सहजयोगी सबसे पहले कर्ममुक्ति प्राप्त करता है । तदनन्तर चिन्तामुक्ति और सबसे अन्त में वासनामुक्ति का अधिकार प्राप्त कर जीवन्मुक्त कहलाता है ।[57] जीवन्मुक्त के लिये शास्त्रों का अध्येता होना जरूरी नहीं है ।[58] उसे किसी प्रकार के 'है' से भी सम्बोधित नहीं किया जा सकता । जीवन्मुक्त दशा तो चिदाकाश एवं कालमुक्त इच्छाशून्य पूर्णरूपेण शांत, निर्मनस् स्थिति है । वह 'मैं ब्रह्म हूँ' न भी कहे पहन्तु उसे ब्रह्म से भिन्न भी नहीं कह सकते ।[59] उस के लिए सुख और दुःख आदि द्वन्द्व सम हैं ।[60] मित्र एवं शत्रु में उस की दृष्टि समान रहती है ।[61] वह आसक्ति और निरासक्ति में भी समान रहता है।[62] प्राणिमात्र में परमात्मा के दर्शन करता है [63] और आकाश की भाँति उसका मन सदैव निर्मल रहता है ।[64] वह सभी कर्म शरीर के धर्म मान कर और निष्काम भाव से करता है ।[65]

परवर्ती उपनिषदों की योग साधना

परवर्ती उपनिषदों में जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चाएँ मिलती हैं।[66] कहा गया है कि जीवन्मुक्त की आत्मा विश्वात्मा से भिन्न नहीं है।[67] वह समय, स्थान और पदार्थ की भावना से अतीत एवं ज्ञानस्वरूप है।[68] वह संसारी है परन्तु सभी कुछ स्वभाव-कर्मों के अनुसार ही करता है क्योंकि उसका मन पूर्णरूपेण असंगभाव में स्थित रहता है।[69] सच्चा सहजयोगी होने के कारण उसकी पहुँच तीनों लोकों में है।[70] विश्व को आत्मस्वरूप मानने के कारण वह द्वन्द्वों के प्रति अनासक्त एवं अतीत रहता है।[71] वह इच्छाओं में भी इच्छारहित आसक्तप्रद कर्मों से पूर्णतया विमुक्त है तथा समुद्र की भाँति असीम होते हुए भी सीमा का कदापि परित्याग नहीं करता।[72] वह संचित कर्मों से पूर्ण तथा विमुक्त[73] एवं अपने भाग्य का स्वयं विधाता है।[74] आत्मचैतन्य ही उसका जीवन है।[75] और उसकी स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है।[76] स्वयं ज्ञान स्वरूप होने के कारण वह परमात्मा को ही सर्वत्र समाया हुआ अनुभव करता है।[77] वह न तो द्वैतभाव में विचरता है[78] और न ही तीर्थों पर प्राण त्यागने एवं चण्डाल के घर शरीर छोड़ने में पुण्य एवं पाप का अनुभव करता है।[79] वह वासनामुक्त है और रत्नवत् प्रकाशित होता है। सिद्धियों का स्वामी होते हुए भी उन की कदापि कामना नहीं करता।[80] उसे आकाशवत् परमात्मा में समाया हुआ कह सकते हैं क्योंकि वह सच्चा सहजयोगी और उत्तम ब्रह्मज्ञानी है।[81]

छठा अध्याय

निर्गुण संतों द्वारा वर्णित ज्ञान-मार्ग

सामान्य परिचय

'योग' का अर्थ है, 'मेल अर्थात् अभेद', 'एकता' एवं 'अद्वैत'। प्रस्तुत प्रकरण में 'योगः कर्मसु कौशलम्' वाला अर्थ अभिप्रेत नहीं है। भारतीय धर्मसाधना में तीन प्रधान योग माने गए हैं। प्रथम कर्मयोग, दूसरा भक्तियोग और तीसरा ज्ञानयोग। हठयोग और राजयोग आदि भी योग हैं परन्तु उन का उपयोग प्रायः कर्म, भक्ति और ज्ञान के साधनों के रूप में ही होता है। साधक की साधना जिस मार्ग की होगी तदनुसार ही उसकी साधना का नामकरण होगा। आस्तिक साधकों की साधनापद्धति कोई भी हो उनका साध्य आत्मसाक्षात्कार ही होता है। निर्गुण संत भक्त हैं इसलिए वे ज्ञान और कर्म को भक्ति का अंग या साधन मानते हैं। ज्ञान की चर्चा उन्होंने भक्ति के अंग के रूप में ही की है। अन्तर केवल इतना है कि सगुण भक्त, ज्ञान और भक्ति में भेद न मानते हुए भी भक्ति को ज्ञान के ऊपर मानते हैं जबकि निर्गुण संतों की भक्ति ज्ञान-भक्ति कहलाती है। निर्गुणिए संतों की भक्तिसाधना में इसी कारण ज्ञान का विशेष महत्त्व भी है।

निर्गुण संतों ने भक्तिसाधना में कर्मकाण्ड की अपेक्षा आत्म एवं अनात्म के विचार को भक्ति की सिद्धि के लिए आदर का स्थान दिया है। उन्हें वाचक ज्ञानियों से अरुचि है क्योंकि उनकी दृष्टि में केवल शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन की सहायता से प्राप्त किया हुआ ज्ञान 'अहंकार' का हेतु है। वे ज्ञान को मात्र बौद्धिक विचारणा की ऊहा-पोह स्वीकार नहीं करते। उनका विश्वास है कि सच्चा ज्ञानी वह है जो केवल तत्त्व-विचार ही नहीं करता अपितु उसे अपने व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ भी करता है। ज्ञान की साधना में सर्वप्रथम आत्म और अनात्म पर विचार करना होता है और तदनन्तर उसे व्यावहारिक जीवन में क्रियाशील बनाया जाता है। साधक इन्द्रियासक्तियों पर विजय प्राप्त करता है और ब्राह्मी स्थिति का अधिकार प्राप्त कर स्थित प्रज्ञ कहलाता है। निर्गुण संतों का ज्ञान मार्ग इसी कोटि का है। शंकराचार्य ने भी इसी को ब्रह्मज्ञान या अध्यात्मज्ञान कहा था। बालगंगाधर तिलक का विचार है कि अध्यात्मजिज्ञासु को आरम्भ में मानसिकक्रिया के रूप में ज्ञान की प्राप्ति होती है। तदनन्तर यत्न का आरम्भ है और उस के बाद आत्मज्ञानी परमात्मसाक्षात्कार का अधिकार प्राप्त करता है। उसे आत्मा और परमात्मा एकमेक अवस्था में अनुभव होने लगते हैं।

ज्ञान के भेद

कबीर ने सत्यपुरुष को सारे ब्रह्माण्ड का कर्ता माना है। उनके विचार में 'निरंजन' सत्यपुरुष की संतान है। सत्यपुरुष निरंजन के माध्यम से ही सृष्टिकर्ता कहे गए हैं। कबीरपन्थियों का विश्वास है कि निरंजन ने सृष्टि की रचना के लिए सबसे पहले माया को उत्पन्न किया, जिसे कबीर पन्थ में 'आद्याशक्ति'[1] कहा है। आद्याशक्ति रूपा माया ने ब्रह्मा विष्णु और शिव को जन्म दिया परन्तु उन्हें इस बात का पता नहीं कि वे किस की सन्तान हैं। कारण यह है कि माया ने उन्हें धोखे में डाल रखा है। वेदों को निरंजन के हृदय में स्थित या 'सूक्षमवेद' का स्थूल रूप माना गया है[2]। संतों ने स्वसंवेद्यज्ञान का आश्रय लिया है, उपनिषदों में इसी को स्वतन्त्र रीति से विभिन्न शैली में वर्णित करते हुए कहा है कि ज्ञाता को कोई नहीं जान सकता। क्योंकि वह तो स्वयं ही वेत्ता, वेदक और वेद्य तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है।[3]

अध्यात्मज्ञान

संतों ने उपर्युक्त स्वसंवेदन ज्ञान की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस कुल की संतान ने ज्ञान का विचार नहीं किया उसकी माता का विधवा या बाँझ रहना ही अच्छा है[4]। अन्यत्र एक स्थल पर कहा गया है कि जीव जब तक 'मेरी-मेरी' करता रहेगा तब तक उस का एक काम भी सिद्ध नहीं होगा और 'मैं' और 'मेरी' के मिटते ही प्रभु जीव के सम्पूर्ण कार्य कर देंगे[5]। कबीर ने सत्यतत्त्व का बिलोवना बिलोने का उपदेश दिया है तथा उसे सावधानता पूर्वक बिलोने को कहा है ताकि तत्त्वसार हाथ से जाने न पाए। जीव को उपदेश देते हुए वह कहते हैं कि शरीर की मटकी में मन को भलीभाँति बिलोना चाहिए, उससे शरीर में शब्द ठीक रीति से बैठ जाएगा[6]। कबीर की तरह नानक ने परमात्मा के 'हुकम' को मानने वाले शिष्य को सच्चा भक्त एवं आत्मज्ञानी कहा है[7]। संतमत का सिद्धान्त है कि जीव जब तक मन एवं बुद्धि की आसक्तियों की वासनाओं और संस्कारों के आवरणों से शुद्ध नहीं बनता, तबतक वह आवागमन के चक्कर से मुक्ति का अधिकारी नहीं कहला सकता। उसके ये आवरण ब्रह्मज्ञान के उपरान्त भक्ति की साधना द्वारा ही दूर होते हैं। संतपरम्परा में इसीकारण ब्रह्मज्ञान को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है।[8]

ब्रह्म की अनुभूति

सन्तमतानुसार ज्ञान का अर्थ अद्वैतज्ञान है। वे स्वयं ब्रह्मासाक्षात्कार के रस का आनन्द उठाते हैं[9] और उसे अगोचर एवं अनिर्वचनीय बतलाते हैं। ब्रह्म को अनुभव का विषय बतलाते हुए कबीर ने 'सूखिम मार्ग' शीर्षक से ब्रह्म के अनुभवों का वर्णन किया है। संत परमात्मा को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से अतीत मानते हैं[10]। उन्होंने रसिक रस और रसज्ञ,[11] मल्लाह, मछली जल, जाल अर्थात् सभी कुछ परमात्मा को माना है।[12] वही सरोवर है और हंस भी वही, कमल और कुमुदिनी तथा उन्हें देख कर प्रसन्न होने वाला चकोर भी वही[13] है। वह स्वयं ही रत्न, उसका मूल्य एवं पारखी है। गुण गुणज्ञ और वक्ता तीनों वही है[14]। वह सर्वव्यापक भाव से अपनी कुदरत में समाया हुआ है[15]। कबीर का विश्वास है कि रामरत्न का धन अध्यात्म विचार से ही प्राप्त होता है।[16]

सन्तों ने द्वैत के सिद्धांत का खण्डन कर सारी सृष्टि को अद्वैत माना है ।[17]

ब्रह्म सृष्टि रूप है

नानक का विचार है कि प्रभु स्वयं सभी कुछ करता है तथा सभी पदार्थों का निर्माण भी स्वयं उसने किया है । उपालम्भ देने वाला और उस उपलम्भ को सुनने वाला वह स्वयं है ।[18] वह स्वयं ही संहार करता है और संहार का पात्र भी वह स्वयं बनता है। वह स्वयंम्भू है अपना पालन कर पुन: अपना संहार स्वयं करता है ।[19] चन्द्रमा और सूर्य में उसी की ज्योति है। दोनों का प्रकाश वही है क्योंकि सर्वत्र उसी के पसारे का पसार है ।[20]

निर्गुण संत ब्रह्म को अद्वैतसत्ता मानते हैं परन्तु वे शांकर अद्वैतवादी कदापि नहीं हैं[21] । शंकराचार्य ने माया को अनिर्वचनीय तथा असत्सत्ता माना है जब कि संतों का मायासिद्धान्त काश्मीर शैवदर्शन से प्रभावित है । संतों के विचार में राम ही सर्वत्र रम रहा है । अत: राम को छोड़ कर वे किसी दूसरे देवता को अपना उपास्य नहीं मानते ।[22] वे राम को दशरथि राम नहीं कहते उनका राम तो सर्वत्र रम रहा है और उसी में योगी जन रमण करते है ।[23] नाम और रूप नश्वर हैं क्योंकि दिन, रात, सूर्य, चन्द्र, तारागण सभी नहीं रहेंगे । शेष केवल राम रह जाएंगे क्योंकि वह सत्यस्वरूप अद्वैत तत्त्व हैं ।[24] वे देवतावाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि कब्रों और मरघटों पर जाना व्यर्थ है क्योंकि सच्चा भक्त-ज्ञानी सहजावस्था में स्थित रहता है ।[25] निर्गुणसंत परब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत मानते हैं[26] और उसे द्वैताद्वैतविलक्षण बतलाते हैं ।[27] नानक ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है, "सरब जोति रूप तेरा देखिआ । सगल भवन तेरो माइआ ॥ आ० ग्रं० पृ० 351 ॥

ब्रह्म अद्वैतसत्ता है

संतमत के सिद्धान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म में द्वैत तो है परन्तु इस क्षेत्र में वे न तो शंकराचार्य का अनुसरण करते हैं और न ही रामानुजाचार्य का, वे जीव और ब्रह्म के द्वैत को परम सत्य नहीं मानते । उन्होंने परमात्मा को अमर माना है इस लिए उनके विचार में आत्मा भी अजरामर है । जिस प्रकार शिव ही अपने स्वभाव या इच्छा से जीव रूप धारण कर अपनी शिवता को भूल जाता है इसी तरह का संतों का जीव सिद्धान्त भी है । संतों ने स्पष्ट बतलाया है कि मरता तो नाम और रूप का संसार है ।[28] कबीर ने अपने आशय को प्रतीक द्वारा समझाते हुए बतलाया है कि गौएं अनेक हैं परन्तु दूध एक है ।[29] नानक ने इसी भाव को सागर और सागर की बूंद द्वारा स्पष्ट किया है ।[30]

जीव एवं ब्रह्म की एकता

संत सृष्टि और ब्रह्म के सम्बन्ध में भी द्वैत के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं । वैष्णवाचार्यों ने कई रूपों में जीव, जगत और ब्रह्म के अद्वैत, भेदाभेद और भेद आदि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । शंकराचार्य ने भी जीव और जगत् को ब्रह्म से अभिन्न माना है परन्तु इन सब के अद्वैत से संतों का अद्वैतसिद्धान्त

सृष्टि एवं ब्रह्म की एकता

स्वतन्त्र रीति का है। भेद या भेदाभेद को तो वे मानते ही नहीं और न ही चिदचिद्वि-शिष्ट के सिद्धान्त को मानते हैं। उनका विश्वास है कि जीव का रूप स्वयं प्रभु ने धारण किया हुआ है। यह प्रभु की इच्छा या लीला है। वे यह मानते हैं कि स्वयं परमात्मा ने अपने आप को अपनी इच्छा से सृष्टि के रूप में परिणत या साकार किया है तथा नाम और रूप का भेद भी ईश्वर की इच्छा से है। नाम और रूप विकारी हैं और परमात्मा ने कनक की भाँति बहुवेश धारण किये हुए हैं। सभी में निरंजन (मायातीत परब्रह्म) की ज्योति समाई हुई है। अतः जीव परमात्मा से स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं है।[31] कबीर ने कहा है :—

कबीर तेज अनंत का मांनौ ऊगी सूरज सेनि ।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेनि ॥

क० ग्रं० (पारस) पृ० 168

ज्ञान के साधन

निर्गुण संतों के विचार में आत्मा और परमात्मा में अद्वैत की अनुभूति ही अध्यात्म ज्ञान है। वे वैराग्य, विवेक, श्रद्धा, श्रवण, मनन, अहंकारत्याग, गुरुकृपा और परमात्मकृपा को ब्रह्मज्ञान के साधन मानते हैं। प्रधान साधनों का विवेचन इस प्रकार है।

विवेक

विवेक का सामान्य अर्थ है. 'ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की सहायता से मन एवं बुद्धि द्वारा किसी वस्तु या विचार के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न।' प्रस्तुत संदर्भ में विवेक का अर्थ 'आत्म-अनात्म की विचारणा' है। सदसद् की परीक्षा ही विवेक है। सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष का अपने स्वरूप को पहचानना विवेक कहलाता है। कबीर का विचार है कि तत्त्वविचार के अभाव में मात्र राम-राम के नाम की रट उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार आग-आग कह कर अग्नि की गर्मी की आशा करना।[32] यह सारा नाम रूप वीर्य (पानी) और प्राणों के लहारे स्थित है। उनके विचार में परमतत्त्व की ज्योति से सारा विश्व ज्योतित हो रहा है।[33] ब्रह्म निर्गुण है और नामरूप सृष्टि उस की सत्ता के कारण सत्य है। नानक ने भी यही कहा है कि परमसत्य तत्त्व केवल परमात्मा है तथा बाकी सारी सृष्टि उसी की सत्ता से सत्तावान् है।[34] कबीर की बानियों के 'परचा' 'भरम-विधूसन' 'सूखिममारग' आदि प्रकरणों में विवेक की अनेक रूपों में चर्चा हुई है।

वैराग्य

आत्मज्ञान और परमात्मचिन्तन के सहायक अंगों में वैराग्य का विशेष महत्व है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह ठीक है कि जिस वस्तु को हम प्राप्त करना चाहें, उससे भिन्न तथा तद्विरोधी पदार्थों के प्रति विरक्ति का भाव धारण करें। जीव विषयासक्तियों के आवरणों के कारण आनन्द स्वरूपता की स्थिति से वंचित है। इसी रिक्त स्थान की पूर्ति के प्रयत्न करता हुआ वह सांसारिक पदार्थों एवं लौकिक सम्बन्धों में आनन्द प्राप्ति के प्रयत्नों की मृगमरीचिका में भटकता रहता है। उसे क्षणिक आनन्द के बदले स्थायी दुःख, उदासी और अभावों की प्राप्ति होती है। तदनन्तर विचारणा के बाद उसे यह पता चलता है कि ब्रह्म ही केवल

सनातन एवं शाश्वत तत्त्व है। और यह जीव उसी में एकमेक होकर आनन्द की प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है। इस लिए उसे सांसारिक सम्बन्धों और पदार्थों की आसक्तियों का परित्याग कर देना चाहिए।

निर्गुण संत वैरागी तो हैं परन्तु कर्मसन्यासी कदापि नहीं हैं। उन्होंने घर के भीतर रह कर जल में कमल की भाँति रहने का उपदेश दिया है, और उसी में मानव-जीवन की सार्थकता मानी है। वे जीव को उपदेश देते हैं कि उसे संसार के नैहर के प्रति आसक्ति का परित्याग कर परलोक की ससुराल में जाने के लिए उत्सुक रहना चाहिए।[35] कबीर ने मन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि यह संसार अस्थायी बसेरा है। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही नष्ट होगा। अतः नश्वर शरीर के लिए गर्व कैसा ? जबकि इस का अन्त चिता में ही जल जाना है। जीव इस जन्म में भी यदि नहीं चेता तो यम का डण्डा उसके मस्तक पर अवश्य पड़ेगा। घर की नारी भी केवल देहरी तक ही जाती है और सज्जन, सम्बन्धी मरघट तक। घर पर उसे घड़ी भर के लिए कोई रहने नहीं देता।[36] जीव इस संसार की बालू के घर में रह रहा है और अनजान अब भी नहीं चेतता।[37]

कबीर ने शरीर की अस्थियों को लकड़ियों की भाँति और केशों को घास की भाँति जलते हुए देखा और वैराग्य का अनुभव किया है।[38] वह कहते हैं कि उन्होंने ठीक तरह से ठोंक बजा कर देख लिया है कि इस नाशवान् संसार में जीव का सच्चा हितु कोई भी नहीं।[39] टेसू के फूल दो दिन के लिए खिलते हैं और पलास भी खंखर हो जाता है।[40] कबीर का कहना है कि एक दिन सभी से बिछोह होना स्वाभाविक है। यमराज के दरबार में राजा और रंक की गति समान है[41] सभी को जंगल में निवास-स्थान बनाना होगा और उनके मृतक शरीर पर ढोर घूमेंगे।[42] संतों के विचार में आसक्ति प्रधान कर्मों के फलस्वरूप उपलब्ध संसारिक सुख अनित्य और विनाश-परिणामी हैं।[43] शरीर को अस्थिर और काल का ग्रास कहा है।[44] विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर विषयों के प्रति आसक्तियों से विरति का भाव वैराग्य है।

अहंबुद्धि का परित्याग

जीव-सृष्टि और कर्मविधान को संतों ने अनादि माना है। उनके विचार के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण-कण में समाया हुआ परमात्मा ही पिण्ड में जीव रूप धारण किए हुए है। जीव कर्म स्वातन्त्र्य के स्वभाव को भूल जाता है और अहंभाव के कारण अपने आप को अनात्मतत्त्व मान बैठता है। वह मन, बुद्धि तथादूसरी इन्द्रियों के धर्मों को अपने धर्म समझने लगता है। कबीर ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव रूपी स्त्री (मुग्धा) एक ही सेज पर परमात्मा के साथ सोई हुई है परन्तु अहंभाव के कारण उस का प्रिय से मिलन नहीं हो रहा है।[45] परमात्मा इसे सहन नहीं करता। इसी कारण संत जीव को उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'मैं' बड़ी बला है, यदि भाग सकते हो तो इसके पाश से निकल कर भाग जाओ, रूई को आग में

लपेट कर कब तक रख सकोगे।[46] मानिनी मुंध (मुग्धा) के लिए प्रिय-समागम सम्भव नहीं है। प्रिय से मिलने के लिए अहं का पूर्ण परित्याग करना पड़ता है।[47]। अहंकार का शत्रु मुनियों तक को परास्त कर देता है।[48] नानक ने 'हउमे' को प्रभु-प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा माना है। आदि ग्रंथ में 'हउमे' के विवध पक्षों का विस्तार सहित वर्णन है।

गुरु एवं परमात्म-कृपा

पराविद्या के ग्रंथों में आत्म एवं अनात्म के विचार के लिए विद्याध्ययन, तर्क एवं बौद्धिक चिन्तन को स्वीकार तो किया है परन्तु यह भी कहा है कि स्वसंवेदन ज्ञान परमात्मा की कृपा से और गुरु-अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त होता है। संतमत में आत्म-अनात्म के विवेक की प्राप्ति का उपाय केवल तत्त्व विचार ही नहीं माना गया। तदनुसार बौद्धिक-चिन्तन वस्तु के स्वरूप का परिचय तो करवा सकता है, उस की अनुभूति नहीं। ब्रह्मज्ञान का तत्त्वविचार करने वाले अनेक हो सकते हैं और विद्वत्ता के भरोसे आत्मा, परमात्मा, जीव और जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुमान भी लगाए जा सकते हैं परन्तु आत्म साक्षात्तकार कर, तदनुकूल आचरण करना ही सच्चे आत्म-ज्ञानी का लक्षण है। इसके लिए संतमत में गुरुकृपा और परमात्मा के अनुग्रह का सिद्धान्त स्वीकार किया है। कोरे अध्यात्मज्ञानी और सच्चे अध्यात्म-भक्त में यही अन्तर है। संत सच्चे अध्यात्म-भक्त हैं : कोरे अध्यात्मज्ञानी नहीं।

संतों ने अद्वैतबुद्ध एवं ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति में गुरु-कृपा को सर्वाधिक सहायक माना है।[49] कबीर को संजीवनी मूरि देने वाले गुरु हैं। इसी को प्राप्त कर उन्होंने पच्चीस तत्त्वों की सर्पिणियों एवं माया-डाइन को भयभीत कर रखा है।[50] नानक ने कहा है कि गुरु-मुख से हरि का नाम प्राप्त होने पर चारों प्रकार के ताप दूर हो जाते हैं। शिष्य गुरु के प्रति विश्वास एवं साधना द्वारा अमृत-तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। गुरु को 'सच्चाहितु' माना गया है क्योंकि गुरुकृपा से ही परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।[51] गुरुकृपा के अभाव में नानक को सर्वत्र गुबार ही गुबार नजर आता है।[52] संतों की गुरुकृपा में अगाध श्रद्धा और अटूट विश्वास है।[53] कबीर करीम के करम में आगाध श्रद्धा रखते हैं[54] क्योंकि राम ही उनके रक्षक हैं।[55]

निर्गुणसंत : ज्ञान साधना के प्रेरणा स्रोत

सामान्य परिचय

जीवन्मुक्त साधक आत्मज्ञान की उपलब्धि के बाद दैनिक कर्मों का परित्याग नहीं करता। उसके कर्म अनासक्त मन एवं तटस्थ बुद्धि के कारण निष्काम कर्म कहलाते हैं। निष्काम कर्म आत्मज्ञान के पूरक हैं। आत्मज्ञानी सदसद्विवेक बुद्धि द्वारा विषयों के प्रति आसक्तियों का परित्याग कर, जनक जैसे जीवन्मुक्त साधकों की भाँति सहज भाव से सभी जागतिक व्यवहार चलाता है। आत्म-ज्ञान के बाद मानव के कर्म निष्काम हो जाते हैं। इसी तरह विषयों की आसक्तियों से रहित कर्म, जीव के लिए ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होते हैं। दोनों का

मणिकांचन संयोग हो जाए तो उस से परमभक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए ज्ञान और भक्ति दोनों को एक साथ परम साधन एवं परम साध्य बतलाया गया है। संत कर्मकाण्ड प्रधान कर्मों के प्रति उदासीन हैं। उनकी भक्ति ज्ञान भक्ति है। संतसाहित्य अध्यात्म साहित्य है। उसमें जीव के बन्धनों एवं मुक्ति के कारणों तथा उपायों का विवेचन है। सभी प्रकार के आसक्तिप्रद कर्मों का उन्होंने खण्डन किया है। भक्ति हो या ज्ञान नामसिमरन तथा अन्य उपाय, सभी कर्म माने गए हैं। उन्हें शुभ कर्म इसलिए कहा है क्योंकि इन का अनुसरण कर मन सांसरिक विषयों के प्रति आसक्तिभाव से दूर रहता है। उन्होंने अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खण्डन किया है जिस कारण उन्हें ज्ञानीभक्त कहा जाता है।

निर्गुण संत सम्पूर्ण बाह्याडम्बरों को माया मानते हैं। अल्लाह, राम, करीम, कृष्ण, रहीम, विष्णु, शिव एवं ब्रह्मा आदि देवताओं एवं देववाद में उनका विश्वास नहीं हैं। उनके विचारों में ये सभी नाम 'अद्वैत अनुत्तर सत्ता' की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। उन्होंने बाह्याडम्बरों को मिटा देने के प्रयत्न और बाहरी कर्मकण्ड के प्रति आसक्ति भाव का खण्डन किया है। गुरु के प्रति विश्वास, श्रद्धा और भक्ति को शुभ कर्म माना गया है। सिमरन उनकी दृष्टि में कर्म है। अहंभाव और माया के पाश से मुक्ति दिलाने वाले सभी साधनों को कर्म माना है और उन्हें शुभ कर्म बतलाया है।

परा और अपरा विद्या का भेद करते हुए उपनिषदों में कर्म काण्ड को आवागमन का हेतु बतलाया है। परमात्मा के अनुग्रह की चर्चा हुई है तथा कर्म और ज्ञान को दो अलग-अलग स्वतन्त्रमार्ग मान लिया है। सांख्य दर्शन और योगसाधना में तत्त्व-विचार एवं तत्त्व-प्राप्ति की साधना को अध्यात्म ज्ञान माना जाता है। कुमारिल भट्ट, मीमांसक हैं और शंकराचार्य अध्यात्मवेत्ता। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर ने निर्गुण भक्ति का प्रचार किया है। भक्ति के लिए उनका जितना आग्रह है उतना ही आग्रह प्रभु-प्राप्ति के हेतु ज्ञान के प्रति भी। निर्गुणसंत साध्यरूपा भक्ति के लिए ज्ञानसाधना को आवश्यक बतलाते हैं। उनकी साधना कर्मकाण्ड प्रधान न होकर ज्ञान प्रधान है।

संतों की विचाधारा भक्तिसाधना प्रधान है और अध्यात्म ज्ञान के लिए उपनिषदों, बादरायणसूत्रों, योगवाशिष्ठ, अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता, काश्मीर शैवदर्शन, नाथसम्प्रदाय आदि के दार्शनिक विचारों एवं अन्य अध्यात्म ग्रन्थों के विचारों का अनुसरण भी है अन्तर यह है कि वे आदि एवं अन्त दोनों स्थितियों में भक्त हैं। योग तथा ज्ञानप्रधान परवर्ती उपनिषदों ने भी उन के साधना मार्ग और ज्ञान चिन्तन को प्रभावित किया है।

अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति

'अवधूतगीता' में कहा है कि जीव को आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि परमात्मा के अनुग्रह द्वारा होती है।[1] वह अनेक जन्मों में शुभ कर्मों का आचरण करता हुआ अन्त में मोक्ष प्राप्ति के लिए तीव्र जिज्ञासा से प्रेरणा प्राप्त करता है।[2] जो जीव बार-बार शरीर धारण कर विषयासक्तियों के प्रति उदासीन हो गए हैं

उनके लिए मोक्ष-द्वार कहीं दूर नहीं।[3] योगावशिष्ठ में अध्यात्म ग्रंथों के अध्ययन और सत्संगति का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन के प्रभाव से साधक सहृदय, आर्य, प्राणीमात्र का मित्र, सौम्य, ज्ञानी एवं मुक्त बनता है और प्रत्येक की श्रद्धा का पात्र हो जाता है।[4]

योग-वाशिष्ठकार ने आत्मोपलब्धि के लिए चिरकाल तक गुरु की सेवा, अध्यात्म-शास्त्र के विचारों का मनन एवं दृढ़ जिज्ञासा भाव की आवश्यकता पर बल दिया है।[5] तदनुसार जिज्ञासु शिष्य गुरु-उपदेश एवं अध्यात्म शक्ति द्वारा अहंभाव का निराकरण कर सकता है। आत्मसंयम, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास उसकी रक्षा करने वाले कवच हैं।[6] जिज्ञासु साधक सदुपदेश को चाहे वह किसी सामान्य व्यक्ति एवं अबोध बालक द्वारा ही क्यों न मिले, ग्रहण करने में संकोच नहीं करता।[7] सदसद्विवेकबुद्धि उसका सहारा है।[8]।

जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के उपाय

जीवन्मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति के प्रधान दो उपाय हैं : पहला उपाय चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन का है और दूसरा साधना का। दोनों उपाय एक दूसरे की परस्पर सहायता करते हैं। अतः एक का परित्याग कर दूसरे को स्वीकार करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यह दो का भेद भी कल्पित है, जब कि वास्तव में दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध नीर क्षीर का सम्बन्ध है। चिन्तन एवं मनन की चर्चा की जा चुकी है। प्रस्तुत प्रकरण में साधना रूप उपायों का उल्लेख संक्षेप में किया गया है :—अध्यात्म ज्ञान, स्वाध्याय, चिन्तन एवं मनन। मन की एकाग्रता के अभाव में न स्वाध्याय हो सकता है और न ही चिन्तन एवं मनन ही। पातंजल योगदर्शन के अनुसार साधना के आठ अंग इस प्रकार हैं :—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पा० यो० सू० 2/20।

परवर्ती योगोपनिषदों में शीतातप, भोजन-निद्रा, अनवरतशांति, धैर्य-विजय, कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का वशीकरण, ज्ञान द्वारा सारी सृष्टि को ब्रह्मरूप समझना आदि उपायों को शरीरसाधना के अन्तर्गत माना है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शुद्धता दयालुता, नेकनीयती, क्षमा और दृढ़ता आदि दस अंग माने गये है।[9] शुद्ध आचरण, संतोष, उदारता, ईश्वरपूजा, नम्रता, निश्चय, प्रार्थना, तपस्या और शास्त्रीय ग्रन्थों के निश्चित ज्ञान को भी शरीर एवं मनोनिग्रह के लिए जरूरी माना जाता है।[10] मन के निग्रह के लिए जिन अतिरिक्त साधनों का उल्लेख हुआ है, उन में गुरुभक्ति, सत्य मार्ग से प्रेम, प्राप्त परमतत्त्व का आनन्द पूर्वक अनुभव, सत्य तत्त्व की प्राप्ति की यात्रा की अनुभूतियों में विशेष रुचि, सामाजिक असंग, एकांतवास, वैराग्य, चिन्तन एवं अन्तर्भावना शामिल हैं।[11] 'अपरोक्षानुभूति' में कहा है कि ज्ञानी मन के निग्रह द्वारा परमात्म साक्षात्कार के आनन्द को प्राप्त कर सकता है। इसे अध्यात्म साधनों की प्राप्ति के प्रति आकर्षण तथा अध्यात्मप्राप्ति में बाधक तत्त्वों के प्रति विरक्ति का भाव

धारण करना चाहिए। इसी को सच्चा मनोनिग्रह माना है।[12]

'योग वाशिष्ठ' में मन की पूर्ण स्थिरता के बाद विश्व के सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक प्रपंचों की समावस्था की अनुभूति की अवस्था की प्राप्ति को समाधि-अवस्था कहा है।[13] 'अन्तपूर्णोपनिषद्' में परमात्मानुभूति एवं अनवरत शांति की अवस्था के स्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि उस अवस्था में वासनाओं के पुराने संस्कार मन को चंचल नहीं बना सकते। इस प्रकार से स्थिर हुआ मन सच्चे ध्यान में समा जाता है।[14] सभी सांसारिक कर्म करते हुए परमात्मा की अनुभूति में लीन रहने वालों को सच्चे समाधिस्थ योगी माना है। यह भी कहा है कि जिन का मन शांत नहीं उनका मन ध्यानमुद्रा में बैठे रहने पर भी समाधि की अवस्था के अधिकार को प्राप्त नहीं कर सकता।[15] इस अवस्था की प्राप्ति वही कर सकता है जिसका मन वासना-रहित हो चुका है। सत्य के ज्ञाता को बन्धनमुक्त माना गया है और यह स्वीकार किया है कि बन्धनमुक्त को ही आत्मानन्द की प्राप्ति हो सकती है।[16]

समाधि की अवस्था में आत्मा और परमात्मा में भेद की प्रतीति या अनुभूति नहीं होती। इसे सीमातीत दशा कहकर पानी का पानी में, वायु का वायु में और प्रकाश का प्रकाश में समा जाना कहा है। साधक की सम्पूर्ण सीमाएं टूट जाती है और मन अचल पर्वत की भाँति संकल्प विकल्प-शून्य हो जाता है वह अहम् की अनुभूति से अतीत हो जाता है और उसकी जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ पूर्णरूपेण तुरीयावस्था रूप हो जाती हैं[17]। तुरीयावस्था में ज्ञान एवं चैतन्य की प्राप्ति ही सच्ची स्वरूपावस्था है। इस अवस्था में व्यष्टि जीव या जीवों का आत्मा-परमात्मा के बीच का भेद-ज्ञान मिट जाता है।[18] उनका स्वरूपवस्था की उपलब्धि के साथ ही आवागमन के चक्कर का सम्पूर्ण प्रपंच भी समाप्त हो जाता है क्योंकि तब द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का अन्तर नहीं रहता।[19] ऐसा साधक परमात्मानुभूति के अमृत का पान करता है और परमहंस कहलाता है।[20]

सात अवस्थाएँ

अध्यात्मग्रन्थों में ज्ञान के मार्ग पर विचारणा करते हुए साधक द्वारा प्राप्त सात अवस्थाओं की चर्चा की गई है। शंकराचार्य का सिद्धान्त है कि अध्यात्मशास्त्रों का विषय स्वसंवेद्यता है इसलिए युक्तियों एवं तर्क आदि की सहायता से स्वसंवेद्यज्ञान सम्भव नहीं है। उपनिषदों में भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ है।[21] श्रुतिग्रन्थों को अनुभविक ज्ञान कहकर उसे प्रमाण रूप में स्वीकार करने का उपदेश दिया गया है।[22] याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहा है कि जिस प्रकार मृग-मरीचिका के जल से प्यास नहीं बुझती या बालु से तेल नहीं निकलता उसी प्रकार प्रत्यक्ष एवं नाशवान् वस्तु से अमृतत्त्व की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है।[23]

भगवान् कृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है कि परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को। कर्म एवं माया का चक्कर अनादि काल से इसी तरह चल रहा है। प्राणिमात्र अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख एवं दुःख भोग रहें हैं।[24] कर्मों

के प्रवाह को अनादि माना गया है क्योंकि एक बार कर्म-प्रवाह के शुरु हो जाने पर परमेश्वर भी उस में हस्तक्षेप नहीं करता। अध्यात्म-विद्या में कर्म-सिद्धान्त मान्य तो है परन्तु कर्मों से मुक्ति के विभिन्न साधन भी बतलाए गए हैं। तदनुसार दृश्य सृष्टि नाम और रूप या कर्महीन नहीं है परन्तु नामरूप के आवरण का आधार स्वतन्त्र एवं आत्म स्वरूपा ब्रह्मसृष्टि का अस्तित्त्व माना जाता है। शरीरस्थ आत्मा को नित्य एवं स्वतन्त्र परब्रह्म का अंश कहा गया है। ज्ञान मोक्षोपलब्धि का उपाय या साधन है, जिसे भक्तसंतों ने भक्ति का सहायक तत्त्व माना है। उनके विचार में ज्ञान की सहायता से कर्मों को भस्म किया जा सकता है[25]। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में एषणाओं से अतीत एवं अकर्ता है।[26] अकर्ता से आशय सांख्यों के 'पुरुष' के अकर्तृत्व जैसा नहीं है। शरीरी आत्मा ज्ञान-प्राप्ति के बाद परमात्मा में समा कर, शुद्धबुद्ध, निर्मल एवं स्वतन्त्र हो सकती है।[27] सांसारिक आसक्तियों में लीन हुआ यह जीव एक दिन अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनता है और शुभ कर्मों का अनुयायी बन कर अध्यात्म गुरु की शरण प्राप्त करता है। अध्यात्म के पथ पर चलते हुए साधक को सात सोपान पार करने पड़ते हैं। विस्तार के भय से प्रत्येक भूमि का उल्लेख करना यहां सम्भव नहीं।

आत्म साक्षात्कार के तीन प्रधान साधन माने गए हैं। शास्त्रों का अध्ययन, गुरु की शरण और सतत आत्म-निरीक्षण[28]। जिस तरह रोग का निवारण औषधी के सेवन से होता है केवल नाम लेने से नहीं। इसी तरह आत्मा और परमात्मा की एकता की मात्र चर्चा से आत्मज्ञान की उपलब्धि सम्भव नहीं।[29] इस के लिए साधक को आत्मानुभव की शरण लेनी पड़ती है। मैं क्या हूँ ? इस प्रकार के ज्ञान और अनुभव द्वारा आत्मस्वरूप की पहचान और आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होती है। वस्तु अन्धेरे में पड़ी हो और हम केवल प्रकाश का नाम लेते रहें वह कभी भी दिखाई नहीं देगी। उसे केवल प्रकाश ही नेत्रों का विषय बना सकता है।[30] गुप्तधन के लिए इस्तेमाल की गई मशाल की आवश्यकता जिस प्रकार गुप्त धन की प्राप्ति के बाद नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के साधन ज्ञानोपलब्धि के अनन्तर अनावश्यक हो जाते हैं।[31] ज्ञान-साधनों द्वारा मन को निष्क्रिय बनाना पड़ता है और इस के लिए योग का सहारा भी लेना होता है। ज्ञान के बिना योग केवल शारीरिक अनुशासन है। ज्ञान जीव के स्वरूप साक्षात्कार में उस की सहायता करता है।[32] अध्यात्म ग्रन्थों में अनुभवी साधकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान की सहायता के अभाव में केवल योग-मुक्ति का अधिकारी बनाने में असमर्थ है। इसलिए ज्ञान सहित योग का सहारा लेना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ' का वाचक ज्ञान ही काफ़ी नहीं है।

आत्म निरीक्षण का महत्त्व

सत्यस्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए तीन मुख्य सोपान या आधार बतलाए गए हैं। प्रथम सोपान है अहंकार का पूरी तरह परित्याग। दूसरा संकल्प-विकल्प का त्याग और तीसरा आन्तरिक चिन्तन करते हुए विवेक द्वारा 'मैं ही विश्व हूँ' की अनुभूति।[35] अध्यात्म ग्रन्थों में ज्ञानमार्ग के प्रवेश की योग्यताओं के उल्लेख हैं, जिन्हें

अपना कर साधक साधना की प्राप्ति के प्रयत्नों में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। निर्गुण संतों की विचार धारा में उपर्युक्त अध्यात्म-परम्परा से पर्याप्त मात्रा में सहायता ली गई। परन्तु उनकी ज्ञान साधना की निजी विशेषताएँ हैं जिन का उल्लेख निर्गुण संतों की ज्ञान और कर्म की विशेषताओं के अध्ययन के समय किए जा रहा है।

निर्गुण संतों की ज्ञानसाधना की विशेषताएँ

निर्गुण संत शुद्ध ज्ञानमार्गी नहीं अपितु ज्ञानात्मिका भक्ति के उपासक हैं। वे उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान को स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में सभी प्रकार के विचार हैं जिन्हें आधार बनाकर परवर्ती दार्शनिकों ने अपने अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया है। अध्यात्म विद्या का महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि धीरे-धीरे याज्ञिक कर्म काण्ड की ओर से सामाजिकों का ध्यान हटता गया। परन्तु पराविद्या के अधिकारी कितने हो सकते थे। बुद्धवद्यपि परमात्म सत्ता-सिद्धान्त को नहीं मानते परन्तु तत्त्वविचार उनके चिन्तन का मुख्य विषय है। बुद्ध के दार्शनिक विचारों को धार्मिक स्वरूप प्रदान करने के लिए तथा परिवर्तित परिस्थितियों एवं अन्तर्भुक्ति के परिणाम स्वरूप महायानियों ने बुद्ध को भावात्मक सत्ता माना और अवतारवाद की तरह मूर्तिपूजा एवं तान्त्रिक विधियों का प्रचार हुआ। शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म की जिस एकता का सैद्धान्तिक विवेचन किया और माया को अनिर्वचनीय माना है, उसका परिणाम यह हुआ कि भक्तहृदय के लिए वह सचमुच की मृगमरीचिका ही बन गया।

उपतिषदों, गीता और बादरायण के सूत्रों को आधार बनाकर शंकराचार्य के बाद वैष्णवाचार्यों ने विशिष्टाद्वैत भेदा-भेद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को सर्वोपरि माना गया। शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया गया और भागवत तथा विष्णुपुराण आदि पुराणों तथा आलवार और आड्यार संतों के प्रवचनों के आधार पर माया को परमात्मा की शक्ति माना। ईश्वर की इच्छा तथा लीला, प्रभुकृपा और गुरु के महत्त्व ने मिलकर वैष्णवसम्प्रदायों के प्रति धार्मिकों को विशेषरूप से प्रभावित किया है। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का जो समन्वय किया गया था, वैष्णवाचार्यों ने इसे स्वीकार तो किया परन्तु भक्ति को साध्य और ज्ञान एवं कर्म को भक्ति के साधक अंग बतलाया है।

निर्गुण संतों से पहले संत ज्ञानेश्वर तथा उन्हीं की परम्परा के महाराष्ट्र के संतों ने सगुण भक्ति की भाँति ही निर्गुण-भक्ति को भी व्यावहारिक बतलाया और निर्गुण भक्ति के लिए आधार को दृढ़ता प्राप्त हुई। सिद्ध सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक जिस विचारधारा का प्रचार करते रहे थे, उनमें से बहुत कुछ को निर्गुणसंतों ने स्वीकार किया है। अन्तः साधना के प्रति झुकाव और बाह्य पूजा-विधियों के प्रति विरक्ति की भावना संतों ने सिद्ध परम्परा से प्राप्त की है। नाथसम्प्रदाय में भक्ति साधना की तो मान्यता नहीं है परन्तु साम्प्रदायिक उपासनाओं आदि के आडम्बर का प्रत्याख्यान अवश्य किया गया है। निर्गुणसंत हठयोग की अपेक्षा सहजयोग या भक्तियोग को ही स्वीकार करते रहे परन्तु समाज में प्रचलित बाह्यडम्बर का नाथपन्थी स्वर भी उन्होंने अपना लिया है।

निर्गुणसंत ज्ञान और कर्म को भक्ति-साधना का विरोधी नहीं मानते। गीता के अध्यात्म-सिद्धान्त की भाँति वे आत्म-अनात्म के विचार को परमात्मा की भक्ति के लिए अनिवार्य बतलाते है। उनका विश्वास है कि जीव जब तक अध्यात्मज्ञान द्वारा संसार की वास्तविकता को नहीं जान पाता, उसकी बुद्धि एवं मन विषयों की आसक्तियों के प्रति विरागी और परमात्मा के अनुग्रह, कृपा और इच्छा के प्रति आस्थावान् नहीं बनता। असलीयत की पहचान के अभाव में मिथ्याडम्बरों के जाल से मुक्त होना भी उसके लिए सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने बार-बार धार्मिक साधकों को परमतत्त्व के शुद्ध स्वरूप को पहचानने का उपदेश दिया है।

निर्गुणसंतों के ज्ञानमार्ग की विशेषताओं में सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि केवल बौद्धिक स्तर पर और शास्त्र ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान या तत्त्व विचार को वे जीव की मुक्ति के मार्ग में सहायक स्वीकार नहीं करते। उनका ज्ञान-पथ स्वसंवेदन का मार्ग है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुण संत नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से तथा निजी तौर पर 'काश्मीर शैव दर्शन' के आत्मस्वातन्त्र्यसिद्धान्त और परशिव, शिव तथा शक्ति के सिद्धान्त से प्रभावित हैं। उन्होंने शाक्तों का बार-बार खण्डन तो किया है परन्तु यह खण्डन उनकी साधना पद्धतियों का खण्डन ही प्रतीत होता है। कौल सिद्धों की तान्त्रिक साधनाएँ तथा गोरख के परवर्ती नाथयोगियों की साधनाओं को उन्होंने सामाजिक हित के पक्ष की दृष्टि से हेय एवं अग्राह्य माना है।

संतों का ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं है। वे अनुभविक ज्ञान के अनुयायी हैं। इसी कारण कोरे वाचक ज्ञानी की इन्होंने निन्दा की है। 'मैं ब्रह्म हूँ' कहना तथा स्थितप्रज्ञ या आत्मनिष्ठ की भाँति आचरण करना दोनों में कहीं भी मेल नहीं है। निर्गुण साधक अहंकार को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करता। कबीर ने प्रेम की गली को अति सांकरी गली बतलाया है और उस में 'मैं और तू'के एक साथ न समा सकने की चर्चा की है योगवाशिष्ठ तथा इसी कोटि के अन्य ज्ञान प्रधान अध्यात्म ग्रंथों के बहुत से विचारों को उसी रूप में स्वीकार तो कर कर लिया गया है परन्तु अपनी भक्ति पर किसी भी स्थिति में आंच आने देना उन्हें स्वीकार नहीं है। वे इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड में अन्तर नहीं है परन्तु जगत को मिथ्या नहीं मानते। उन्होंने नाम और रूप को तो मिथ्या बतलाया है परन्तु साथ ही यह भी माना है कि सारी सृष्टि परमात्म तत्त्व से ही सत्तावान् है। इससे यह ध्वनित होता है कि वे चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म की अपेक्षा यह स्वीकार करते हैं कि जीव और जगत का रूप धारण करना परमात्मा की इच्छा या स्वभाव है। यदि यह ठीक है तो जीव के बारे में संतों की इस विचारधारा को स्वीकार करना पड़ता है कि 'अनुत्तरपदवाच्य परमतत्त्व' ने ही अपने आप को अपनी इच्छा से जीव रूप में साकार किया है और जीवत्व की अवस्था में पहुँचने पर वह अपनी सर्वज्ञता को भूल जाता है। क्यों भूलता है? इस प्रश्न का उत्तर उस की इच्छा, लीला या स्वभाव के रूप में ही दिया जा सकता है।

———

सातवाँ अध्याय

निर्गुण संतों के कर्म-योग सम्बन्धी विचार

सामान्य परिचय

आवागमन और कर्म सिद्धान्त परस्पर आश्रित सिद्धान्त हैं। निर्गुण संतों ने जीव द्वारा किए हुए कर्मों के अनुसार ही आवागमन के सिद्धान्त की चर्चा की है। कर्म के सिद्धान्त का आरम्भिक रूप वैदिक काल में यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति की धारणा के रूप में मिलता है। मीमांसकों ने कर्मसिद्धान्त को शास्त्रीय आधार प्रदान किया है तथा उपनिषदों में भी कर्म के सिद्धान्त की चर्चाएँ हुई हैं। बौद्धधर्म में कर्मसिद्धान्त पंचस्कन्ध के सिद्धान्त के माध्यस से स्वीकार किया गया है और जैन धर्म में भी कर्मों के कारण जीव को प्राप्त होने वाले फल आदि के उल्लेख मिलते हैं। गीता में सन्यास और कर्मयोग के विरोध को अमान्य ठहराते हुए निष्काम कर्म के प्रति आस्था प्रकट की गई है। भागवत धर्म में कर्म को भक्ति के अन्तर्गत मान कर उन्हें भगवदर्पण करने पर बल दिया है। पुराणों में धार्मिक कृत्यों के रूप में तथा भक्तिचर्या के तौर पर कर्मों के विधान के उपदेश दिए गए हैं। शंकराचार्य केवल आत्मज्ञानी के लिए ही कर्मों को अनावश्यक मानते हैं तथा सिद्धों ने बोधिचित्त के सिद्धान्त और साधना के रूप में कर्म के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। तन्त्रिक मतों में भी कर्म साधना की स्वतन्त्र दृष्टिकोण एवं साधना पद्धति के रूप में स्वीकृति प्राप्त है।

कर्म करना मानव की जन्म जात प्रकृति है। जहाँ कहीं भी वह अपनी शक्ति को असमर्थ पाता है, वहीं पर किसी अलौकिक शक्ति के रूप मे देवता की पूजा करना आरम्भ कर देता है। पहले-पहल उसके कर्म ऐहिक जीवन के सुखों की प्रेरणा से सम्बन्धित थे। देववाद के बाद जब अद्वैत परमसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ तभी से कर्मसिद्धान्त में अन्तर आता गया

निर्गुण संतों द्वारा स्वीकृत कर्मों का स्वरूप

निर्गुणिए संतों का कर्म सिद्धान्त वैदिक कर्मकाण्ड के सिद्धान्त जैसा नहीं है। उनके कर्म-सिद्धान्त को बौद्धों के कर्मसिद्धान्त का अनुसरण भी नहीं कह सकते। बौद्ध-धर्म में कर्म-संस्कार पुनर्जन्म धारण करने के प्रधान कारण माने गए हैं। तदनुसार पंचस्कन्धों से निर्लिप्त हुए बिना निर्वाण (निब्बान) की प्राप्ति संभव नहीं है। बौद्ध कर्मों का फल देने वाली परमात्मा नाम की किसी शक्ति में विश्वास नहीं रखते। अतः निर्गुण संतों का कर्मसिद्धान्त बौद्धों की विचारधारा से भिन्न प्रकार का है। वे भागवतों

की वैधीभक्ति से सम्बन्धित कर्मों में भी विश्वास नहीं रखते। मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित नित्य एवं नैमित्तिक आदि कर्मों का भी उन्होंने आदर नहीं किया। उनका कर्मसिद्धान्त उपनिषदों, गीता एवं शंकर के कर्म सिद्धान्त से प्रभावित है, शंकराचार्य के कर्म-सन्यास को उन्होंने अस्वीकार कर दिया है और गीता के निष्काम कर्म की विचारधारा को अपना लिया है।

निर्गुण संत हर प्रकार के बाह्याडम्बरों के विरोधी हैं। उन्होंने पंडित और मुल्लाओं के स्मार्त एवं शरीयत प्रधान कर्मों का कटुशब्दों में विरोध किया है। इस कोटि के कर्मों को वे शुभ कर्म नहीं मानते। वैध कर्मों में उनकी कदापि आस्था नहीं है और न ही वे स्वर्ग-नरक, जन्नत और दोजख की साम्प्रदायिक धारणाओं और विश्वासों को ही मानते हैं। वे भक्त तो हैं परन्तु वैधीभक्ति में स्वीकृत मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा एवं हज्ज आदि का उन्होंने हर समय विरोध किया है। मायिक कर्मों का खण्डन और वर्णव्यवस्था की पाबन्दी का विरोध कर उन्होंने चित्तशुद्धि को प्रधान माना है तथा चित्त शुद्धि के अभाव में हज्ज, रोजा, नमाज तथा पूजा अर्चा आदि को मिथ्या-डम्बर बतलाया है।

कर्मों के भेद : शुभ और अशुभ

निर्गुणसंत भक्ति को प्रधान कर्म मानते हैं। उन्होंने योग और ज्ञान को भी कर्म की कोटि में शुमार किया है। शुभ कर्मों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि मानसिक विकारों को दूर कर, चित्त एवं बुद्धि को निर्मल बनाने वाले कर्म ही शुभ कर्म है। जो कर्म भक्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति में बाधक हैं, उन्हें अशुभ कहा है। जिन कर्मों के कारण माया बलवती बनती है, आवागवन में भटकना पड़ता है, वे सभी अशुभ कर्म हैं।

कर्म सृष्टि कब और क्यों ?

'सिधगोसट' में सिद्धों ने गुरु नानक से यह प्रश्न किया कि कर्मों की सृष्टि क्यों और कब हुई ? इसका उत्तर देते हुए गुरु नानक ने कहा कि सारी सृष्टि परब्रह्म का व्यक्तस्वरूप है। तदनन्तर जो उत्तर गुरु नानक ने दिया वह 'नासदीय सूक्त' एवं 'ऐतरेयब्राह्मण' में वर्णित सृष्टि से पूर्व की अवस्था के वर्णनों से मिलता है। उन्होंने कहा कि सृष्टि से पूर्व खण्ड, ब्राह्माण्ड, तीनों लोक, तीनों देवता, मानव एवं देव सृष्टि कुछ भी नहीं था[1]। तदनन्तर परमात्मा की इच्छा से सृष्टि का विकास हुआ और देवों, दानवों और गन्धर्वों की सृष्टि के साथ ही कर्म-सृष्टि का निर्माण भी हुआ[2]। कबीर द्वारा किया गया सृष्टि-वर्णन भी इसी प्रकार का है। वह कहते हैं, 'सृष्टि से पूर्व पवन, जल, पिण्ड, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ भी नहीं था। वेदादि भी नहीं थे, केवल अद्वैत सत्ता थी लेकिन वह नाम और रूप से अतीत एवं निर्गुण थी[3]। उसी 'निर्गुण परात्पर तत्त्व' से सृष्टि का चित्र बना और कर्म-सृष्टि हुई। नानक और कबीर के सृष्टि एवं कर्म-सम्बन्धी वर्णनों से प्रतीत होता है कि उन्होंने परब्रह्म की एक से अनेक रूप धारण करसे की इच्छा के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन

किया है। निर्गुणसंत ईश्वर की इच्छा को ही कर्म मानते हैं। इसे नाद एवं बिन्दु का सिद्धान्त भी कह सकते हैं।

सृष्टि का निर्माण क्यों और कब हुआ ? में से कब का उत्तर संतों ने जो दिया है उसे 'दुर्ज्ञेयारम्भ सिद्धान्त' का नाम दिया जा सकता है। क्यों का उत्तर 'अनुत्तर सत्ता' की लीला या इच्छा के रूप में दिया गया है। संत परमात्मा को स्रष्टा, चित्रकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अन्तर्यामी बतलाते हैं। गुरु नानक लीला और इच्छा के स्थान पर 'हुकम' शब्द का प्रयोग करते हैं। व्यष्टि और समष्टि कर्मों के रूप में कर्म के प्रधान दो भेद किए गए हैं। व्यक्तिकर्म व्यक्तिजीवन से सम्बन्धित हैं और समष्टि कर्मों को ईश्वरीय विधान कहा गया है। 'कर्मस्वातन्त्र्य-सिद्धान्त' को मानते हुए भी संतों ने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कारों एवं वासनाओं के अनुसार ही जन्म लेता है।[4] वासना या संस्कार के लिए गुरुनानक ने 'किरत' शब्द का प्रयोग किया है। जीव द्वारा पूर्वजन्म में किए हुए कर्म, वासना का रूप धारण करते हैं। गीता में लिंगशरीर के सिद्धान्त द्वारा इसी भाव को समझाया है। संतमत में भी सूक्ष्मशरीर का सिद्धान्त मान्य प्रतीत होता है। उन के जीव और जीव के कर्म सम्बन्धी वर्णनों से ऐसा अनुमान भी किया जा सकता कि अनारब्ध कर्मों के रूप में पूर्ववासना के अंकुर के फूटने की बात भी उन्हें मान्य है। जब तक जीव आवागमन के चक्कर में भटकता रहता है उसका कर्म-प्रवाह समाप्त नहीं होता।

नानक द्वारा की गई 'वाह गुरु' या 'परब्रह्म की आरती' में समष्टि कर्मों के ईश्वरीय विधान का संकेत प्राप्त होता है।[5] निर्गुणसंत यद्यपि 'ईश्वर की इच्छा' और 'ईश्वर कृपा' पर ही अधिक बल देते हैं फिर भी 'कर्म स्वातन्त्र्य' सिद्धान्त उन्हें मान्य है। केवल 'अहंभाव' के निग्रह ही के लिए 'ईश्वरेच्छा' सिद्धान्त पर अधिक बल दिया गया है। उन्होंने कर्मों को कागज़ और मन को दावत से उपमित किया है। ये दोनों मिल कर जीव का हिसाब किताब लिखते रहते हैं। जीव पूर्वजन्मों की वासनाओं के अनुसार ही भले या बुरे कर्म करता है।[6] शरीर को भट्ठी, मन को उस भट्ठी का लोहा एवं काम, क्रोध आदि को शरीर के भीतर की अग्नियां बतलाया गया है, जिन में मन जलता रहता है। पाप-कर्मों का कोयला इन अग्नियों को और अधिक प्रज्वलित करता है।[7]

कर्मसिद्धान्त के प्रकरण में नानक ने 'कीरत' शब्द का प्रयोग किया है जो उन की मौलिक अभिव्यक्ति का सूचक है। मन के दो भेद किए हैं—ज्योतिमन एवं वासनाओं से परिपूर्ण मन। यदि व्यक्ति चाहे तो वासना परिपूर्ण मन को ज्योतिर्मन बना सकता है क्योंकि मानव शरीर में उसे अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करने के स्वातन्त्र्य का अधिकार प्राप्त है। यही कारण है कि जीव को उस के कर्मों के प्रति उत्तरदायी कहा है।[8] कर्म जड़ हैं अतः वे स्वयं फल देने की शक्ति नहीं रखते। इसी लिए संतों ने भी निमित्तकरण के रूप में परमात्मा को कर्मों का फलदाता कहा है। बौद्ध एवं जैनधर्म के सिद्धान्त से संतों के सिद्धान्त में भारी अन्तर है क्योंकि वे किसी रूप में भी परमात्मा नाम की स्वतन्त्र चेतन सत्ता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। संतों ने बार-बार

कहा है कि परमात्मा अपने हुक्म की लेखनी से जीव के कर्मों के विधान और फल का निश्चय करता है।[9]

बन्धनप्रद कर्म

पीछे बतला आए हैं कि निर्गुण संतों का साध्य आत्मसाक्षात्कार है। वे आत्मज्ञान को भक्तिमार्ग का विरोधी नहीं मानते। उनकी भक्ति सहज-भक्ति है वैधी नहीं। भक्त को अहं का पूर्ण परित्याग करना पडता है। विषयासक्ति प्रधान कर्म आत्मविचार तथा ईश्वर के प्रति परानुरक्ति में बाधक हैं। संत साहित्य में वर्णित कर्म सम्बन्धी विचारों के अनुसार कर्मों को कर्मकाण्ड प्रधान, अहंकार युक्त एवं सत्व, रज और तमरूप कर्मों में बाँट सकते हैं।

कर्मकाण्ड प्रधान कर्म वे हैं जिन्हें मीमांसकों ने यज्ञयागादि एवं पुराणकारों ने तीर्थ यात्रा आदि कहा है। कबीर ने पण्डित एवं मुल्लां को सम्बोधित करते हुए बतलाया है कि मैं लोक और वेद के पीछे चल रहा था, मार्ग में मुझे सद्गुरु मिल गए जिन्होंने हाथों में सदसद्विवेक का दीपक दे दिया। भारतीय धर्मसाधना में यज्ञयागादि के रूप में कर्मों के आडम्बर प्रधान रूप ने अपना पूर्णाधिकार स्थापित कर लिया था। उपनिषदों में पहले पहल कर्मकाण्ड का विरोध हुआ परन्तु महायान और भागवत धर्म के प्रचार काल में बाहरी पूजाविधियों को खूब प्रोत्साहन मिला। यद्यपि भगवद्गीता में वेदों को गणप्रधान मान कर त्रिगुणातीत स्थिति की प्राप्ति का उपदेश दिया गया है[10] परन्तु तान्त्रिक विचारधारा के व्यापक प्रचार ने वैधी भक्ति को बढ़ावा दिया और पुराणकारों ने प्रत्येक धार्मिक कृत्य को कर्म मान लिया। अन्तःकरण की शुद्धि का मार्ग बाह्याडम्बर प्रधान कर्मों के कारण अवरुद्ध हो जाने से स्थिति में उत्तरोत्तर बिगाड़ आया और निर्गुण सन्तों को 'प्रभुभक्ति' एवं नामसिमरन को सच्चा कर्म मान कर शेष कर्मों का प्रत्याख्यान करना पड़ा।[11]

संत यह नहीं चाहते कि जीव कर्म करता हुआ 'अहं बुद्धि' द्वारा अपने भविष्य को अन्धकारपूर्ण बनाए। यही कारण है कि उन्होंने बहिर्मुखी बनाने वाले कर्मकाण्डात्मक कर्मों को 'अहंकार प्रधान कर्म' कहा है। सुलतानपुर के मोदी खाने में नौकरी करते समय गुरु नानक ने इन्हीं बन्धक कर्मों से बचने का सुलतान और काजी को उपदेश दिया है।[12] गीता में भी अशुभ कर्मों को आसुरी सम्पदा कहा है। संतों की दृष्टि में वे कर्म ही शुभ हैं जिन का सम्पादन आत्मविचार के लिए किया जाता है। अहंवृत्ति वाले कर्म कर्ता के लिए बन्धन का जाल बुन लेते हैं।[13] कबीर ने कई स्थलों पर कहा है कि उन्हें ऐसे बनज से कोई वास्ता नहीं जिससे मूल ही नष्ट हो जाए।[14] अहंकार युक्त कर्मों के कारण जीव प्रभु के द्वार से ठुकरा दिया जाता है।[15] उसे उसकी आसुरी वृत्तियों के कारण यम के द्वार पर बान्ध दिया जाता है।[16]

निर्गुण संतों ने भक्ति और नामसिमरन के अतिरिक्त सभी कर्म त्रिगुणात्मक माने हैं।[17] तथा भावभक्ति द्वारा जीवन्मुक्त एवं स्थितप्रज्ञ होने की चर्चा की है। कबीर का दृढ़ विश्वास है कि पूर्वजन्म में वह अवश्य ब्राह्मण रहे होंगे और ओछे

त्रिगुणात्मक कर्म करते रहे होंगे। शायद इसी कारण राम ने उन्हें इस जन्म में जुलाहा बना दिया है।[18] मानों इसी बात से खीझ कर उन्होंने बार-बार कर्मकाण्ड की निन्दा की है।[19] त्रिगुणात्मक कर्मों में जीव इसी प्रकार भटक कर रहा है जिस प्रकार विष का कीड़ा।[20] वैदिक कर्म त्रिगुणात्मक कर्म हैं और त्रिगुणात्मक कर्मों द्वारा जीव को तुरीयावस्था की प्राप्ति कदापि नहीं होती।[21] बन्धन के हेतु कर्मों से संतों का आशय उन कर्मों से है जिन्हे साम्प्रदायिक विश्वासों के आधार पर करणीय बतलाया गया है।

मोक्ष प्रद कर्म

शैवदर्शन में कर्मस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रतिपादन है। सन्तों के विचार में आत्मा में स्वान्त्र्य का भाव जागृत हो जाने पर किए जाने वाले कर्म बन्धन के हेतु नहीं सहते। उन्हें मोक्षप्रद कर्म कहा है। उसी जीव की बुद्धि शुद्ध है, जिस के कर्म शुद्ध हैं। इस संसार में जीव दूसरों के स्वार्थ साधन के लिए जिन बन्धनप्रद कर्मों का सम्पादन करता है उन का फल स्वयं उसी को ही भोगना पड़ता है। कोई सम्बन्धी या साथी एवं मित्र उसका साथ नहीं देता।[22] कबीर ने कहा है कि जब अशुभ कर्म करने के बाद जीव को पता चलेगा कि उसने रत्न जैसे अमूल्य जन्म को व्यर्थ में ही गंवा दिया है तो वह पछताएगा कि उसने शुभकर्म क्यों नहीं किए।[23] मोक्ष का अधिकार परमात्मा की कृपा से मिलता है परन्तु अधिकार की योग्यता की प्राप्ति जीव को अपने किए हुए कर्मों के अनुसार ही मिलती है।[24] मोक्षप्रद कर्म जीव को अमर बनाते हैं और उस की युगों-युगों की प्यास शान्त हो जाती है।[25] वह परमात्मा के दरबार में अशुभ कर्मों की गठरी लाद कर नहीं ले जाता।[26] संत साहित्य में वर्णित मोक्षप्रद कर्मों को निम्न-लिखित तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—1. प्रभुस्तुति-प्रधानकर्म 2. जीवब्रह्मैक्यानुभूति की साधना से सम्बन्धित कर्म 3. स्थितप्रज्ञावस्था के कर्म।

निर्गुणसंत साम्प्रदायिक विधि विधानों से सम्बन्धित प्रत्येक कर्म को जीव के आवागमन का हेतु मानते हैं। परन्तु साथ ही जीव को यह उपदेश भी देते हैं कि उसे सदैव शुभकर्मों का सम्पादन करना चाहिए। वे गृहस्थ जीवन के परित्याग का उपदेश भी नहीं देते। इस लिए आपातत: उनकी निजी धारणाओं में विरोध सा दिखलाई देता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहना चाहिए कि सन्तों ने कामना और इच्छा के त्याग को ही सन्यास कहा है। उन की शबदियों और साखियों में वैराग्य की चर्चा सकाम कर्मों के परित्याग से सम्बन्धित है। गीता प्रतिपादित कर्म-मार्ग जैसा कर्ममार्ग तो संतों का नहीं है परन्तु गीता का निष्काम कर्मसिद्धान्त उन्हें मान्य है। उन का प्रधान साधन-मार्ग ज्ञानात्मिका भक्ति है। पराभक्ति में ही वे तुरीयावस्था की प्राप्ति मानते हैं। वे कर्म करना इन्द्रियों का धर्म मानते हैं एवं निरासक्त भाव से आजीवन शुभकर्म करते रहने का उपदेश देते हैं। सिद्धावस्था की प्राप्ति के अनन्तर पानी में कमल की भाँति संसार में निरासक्त भाव से रह कर कर्म करते रहने को उन्होंने भक्त का लक्षण माना है। नानक ने गुरु के उपदेश पर चल कर 'कीरतकर्म' करने से मुक्ति की प्राप्ति को संभव बतलाया है।[27]

तान्त्रिकदर्शन में 'मंत्रचैतन्य' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। तदनुसार मन पदार्थ या भाव का सतत चिन्तन करता हुआ तद्रूपता लाभ करता है। स्वच्छ या ज्योतिर्मन में परमात्मसाक्षात्कार की अनुभूति होती है। कबीर ने इसी कारण गुरु को भृंगी कहा है क्योंकि वह अपने उपदेश द्वारा शिष्य के मन को ज्योतिर्मन बना देता है। गुरु उपदेश ही प्रभुस्तुतिपरक कर्म है। प्रभुस्तुति या नाम सिमरन रूप कर्म करते हुए जीव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बदल जाता है। जैसे भृंगी कीट को अपने जैसा बना लेता है, उसी प्रकार साधक का चंचल मन अचल हो जाता हैं, कबीर ने इसी भाव को 'पंगु' शब्द द्वारा स्पष्ट किया है। ऐसी दशा में अगम, गम और बन्ध, निर्बन्ध हो जाता है।[28] इसी भाव को स्पष्ट करते हुए नानक ने कहा है कि जिस शिष्य के हृदय में सद्गुरु सच्चे परमात्मा का नाम बसा दे उसे सच्चे योग की प्राप्ति होती है।[29]

जिन कर्मों का आचरण कर साधक की नाम और रूप की सीमाएं मिट जाती हैं, वे अध्यात्म कर्म हैं। अध्यात्म कर्मों के अनुसार आचरण करते हुए साधक को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही परमज्योति के प्रकाश की अनुभूति होने लगती है। ऐसी अवस्था का प्रत्येक कर्म अध्यात्म कर्म कहलाता है।[30] मन पर विजय प्राप्त हो जाने के बाद कर्म करते रहने पर भी जीव आसक्तियों में लिप्त नहीं होता।[31] सन्तों द्वारा की गई अध्यात्म कर्मों की चर्चा के आधार पर निम्नलिखित कर्म अध्यात्मक कर्म हैं:— 1—कामादि शत्रुओं पर विजय, 2—चार आर्य सत्यों का आचरण 3—सर्वत्र परमात्मा की ज्योति के दर्शन 4—गुरु की शिक्षा का आचरण 5—अशुभ कर्मों की ओर अप्रवृत्ति 6—परमात्मा का भय 7—आत्मचिन्तन में लीन रहना 8—गुरु कृपा में विश्वास 9—गुरु सेवा 10—अहंकार के निवारणार्थ सतत प्रयत्न।

गीता प्रतिपतिपादित सिद्धान्त के अनुसार कोई भी जीव कर्मों से पीछा नहीं छुड़ा सकता। परमात्मा की इच्छा ही कर्म है। जब परमात्मा ने अपने आप को कर्मों से मुक्त नहीं रखा, तब जीव के लिए कर्मों के प्रति विरक्त रहना कैसे सम्भव हो सकता है। संतों के विचार में पंचभूतात्मक शरीर की स्थिति अनारब्ध कर्मों तक है। परन्तु सिद्ध पुरुष के कर्म वासना या संस्कार की शक्ति या प्रेरणा से नहीं होते। उसकी स्थिति तो कुलाल के उस चक्के के समान है, जो घुमाने की क्रिया के अभाव में भी घूम रहा है। इसी लिए परमात्मा के कर्मों की भाँति ही सिद्ध पुरुष के कर्म भी 'लीला कर्म' माने जाते हैं। आसक्ति के प्रेरक तत्त्व के अभाव में कर्म कदापि बन्धन के हेतु नहीं रहते। क्योंकि कर्म अपने आप में जड़ हैं। वासना या आसक्ति ही उन की प्रेरक शक्ति है। अतः मन के निर्विषय होते ही जीव परमात्मसाक्षात्कार करने लगता है। उसके कर्मों का प्रभाव समाप्तप्राय हो जाता है।[32] इस अवस्था में काम और कर्म की केंचुली पहने नररूपी नाग को सिर फोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।[33]

कबीर का विश्वास है कि अध्यात्मज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त मन का कमल विकसित हो जाता है। क्योंकि वह अपने आप को कर्मों का कर्ता नहीं मानता और उसे कर्मभार तंग नहीं करता।[34] नाम के सुख की प्राप्ति के उपरान्त दुःखों की राशि

से वह पूर्णतया मुक्त हो जाता है।[35] उसकी सम्पूर्ण वृत्तियां तेल की सतत प्रवाहित धारा की भाँति ब्रह्म में लीन रहती है। सांसारिक कर्मों की उसके लिए सत्ता ही नहीं रहती। इस प्रकार भक्त साधक कर्म तो करता है परन्तु कर्मों की आसक्तियों में लिप्त नहीं होता।[36] निर्गुण संत कर्म-सन्यासी कदापि नहीं हैं। मन को उपास्य में लीन कर निरासक्त हो, कर्म क्षेत्र में जूझना ही उन का जीवन बन जाता है।

करम करेदिआ जीउ तूं कमावदिआ सुखु भुंचु।
धिआइदिआ तू प्रभु मिलु नानक उतरी चिंतु। ग्रं० पृ ५१६

निर्गुण संतों के कर्म-सिद्धान्त के प्रेरणा स्रोत

सामान्य परिचय

निर्गुण संतों ने कर्मयोग के सिद्धान्त में भारतीय कर्मसिद्धान्त की परम्परा के कुछ पक्षों को स्वीकार किया है तथा कुछ को बाह्याडम्बर एवं बन्धन के हेतु मान कर उन का खण्डन कर दिया है। उन का आत्मविचार अध्यात्मविद्या का मार्ग है और साधनापद्धति भक्ति। वैदिक कर्मकाण्ड हो, मीमांसकों का कर्मसिद्धान्त हो या वैष्णवों की वैधी भक्ति, सभी को परममोक्ष के मार्ग में बाधक बतलाया है। उनकी अपनी साधना, सहज-साधना है, जिस में अन्तःकरण की शुद्धि पर बल दिया जाता है। कोई भी कर्म जिस से अहंकार या आसक्ति को बल मिले उन्हें स्वीकार नहीं है। नाम और रूप की उपासना को वे आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि में सहायक नहीं मानते। वे निर्गुण के उपासक हैं और निर्गुण की उपासना उन्हें किसी निश्चित नाम और रूप के माध्यम से मान्य नहीं है।

निर्गुण हों या सगुण सभी संत या भक्त परब्रह्म को अनादि एवं अनन्त परमसत्ता मानते हैं। अध्यात्मविद्या के सिद्धान्तानुसार सारी सृष्टि ब्रह्मरूप है। इन्द्रियगोचर रूप में उसके नित्य और अनित्य दो भेद हैं। अनित्यतत्त्व मायासृष्टि है और नित्यतत्त्व ब्रह्म या ब्रह्मसृष्टि। अध्यात्मशास्त्रों के अनुसार दोनों एक ही परमतत्त्व के दो रूप हैं। आत्मा तथा नामरूपात्मक संसार। आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है लेकिन ऐसा करने के लिए उसे नाम और रूप का सहारा लेना पड़ता है। आत्मा के सूक्ष्म एवं स्थूल भेद इसी सिद्धान्त की मान्यता के परिणाम हैं।

वेदान्तविद्या के अनुसार नामरूपात्मक संसार ब्रह्मशक्ति या माया का पसारा है।[1] कर्म और माया में में परस्पर अभेद है।[2] ब्रह्म अपनी माया से प्रकृति को उत्पन्न करता है।[3] परमब्रह्म की सृष्टि के निर्माण की इच्छा ही क्रिया है और क्रिया या कर्म परस्पर अभिन्न हैं।[4] नामरूप सृष्टि माया है अतः कर्म भी माया हैं। माया, नाम, रूप और कर्म सभी परस्पर पर्याय शब्द हैं। निर्गुण सगुण कब, क्यों और किस क्रम से साकार हुआ? यह बतलाना सम्भव नहीं है।[5] इस सम्बन्ध में संतविचारधारा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उनके विचार में इस समस्या का समाधान 'परब्रह्म की लीला' है।[6] माया की भाँति ही मायात्मक कर्म भी अनादि एवं दुर्ज्ञेयारम्भ हैं।[7] इन्द्रियों के अज्ञान या भ्रम से ब्रह्मरूप की कल्पना ईश्वर की माया, शक्ति या उस की

प्रकृति के कारण मानी जाती है।[8] मायायोग के कारण सृष्टि ईश्वरनिर्मित कहलाती या दीख पड़ती है[9]। उपनिषदों में नाम और माया को अव्यक्त, अक्षर एवं आकाश कहा है।[10] वह स्वयम्भू एवं स्वतन्त्र नहीं है। तदनुसार कर्म और सृष्टि दोनों एक साथ उत्पन्न हुए हैं और सम्पूर्ण दृश्यसृष्टि को ब्रह्म से अद्भुत माना गया है।[11] ब्रह्म का दृष्टि-गोचर व्यापार ही कर्म है और यही नामरूप और माया है।[12] संतों ने जो यह माना है कि कर्मों के आदि का पता नहीं है, वही सिद्धान्त अध्यात्म-ग्रंथों में भी उसी प्रकार स्वीकृत है। संत भी कर्म या माया (प्रकृति) के भावी विकास क्रम को सांख्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार ही मानते हैं जो वेदान्तियों की विचारधारा का अनुसरण है।[13]

व्यष्टि कर्म चक्र अनादि है

कर्म के आरम्भ का तो किसी को पता नहीं परन्तु इतना निश्चित है कि जब कर्म की व्याष्ट के रूप में एक बार सृष्टि या आरम्भ हुआ तभी से वह सतत प्रवाह के रूप में चलता आ रहा है। सृष्टि प्रलय के समय कर्म बीज रूप में परिणत हो अनभिव्यक्त अवस्था में अपनी सत्ता बनाए रखते हैं। सृष्टि के पुनर्निर्माण काल में वह बीज अंकुररूप धारण कर फूटने लगता है। व्यष्टि जीव का चक्र अनादिकाल से इसी तरह चल रहा है और इस गतिशील प्रवाह में जीव को कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं।[14]

संतों ने ईश्वर शक्ति को कर्मों का फल देने वाली चेतन सत्ता माना है। ईश्वर जीव के कर्मों के अनुसार ही उस के लिए कर्मफल का निर्णय करता है। यही सिद्धांत गीता, उपनिषदों और ब्रह्म सूत्रों में भी स्वीकार किया गया है।[15] जीव भी परमात्मा की भाँति ही स्वतन्त्र एवं अविनाशी है। अन्तर केवल यह है कि जीव आसक्तियों में पड़ा हुआ है और भवसागर की उत्ताल तरंगों में भटक रहा है और कर्म पाश उसे बान्धे हुए हैं। शास्त्रों में अशुभ कर्मों के कायिक, वाचिक और मानसिक तीन भेद किए गए हैं।[16] सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद कर्मों के और भी हैं।[17] कर्म-विपाक के सिद्धान्त के लिए कर्मों के इन भेदों का विशेष उपयोग नहीं है। इस दृष्टि से कर्मों के प्रधान भेद दो हो सकते हैं। आरब्ध एवं अनारब्ध कर्म।[18] अनारब्ध कर्म वे हैं, जिन का भोगना अभी आरम्भ नहीं हुआ है अतः वे अनारब्धकर्म कहलाते हैं। अनारब्ध कर्म ज्ञानाग्नि से नष्ट किए जा सकते हैं और आरब्ध कर्मों को करना ही पड़ता है। अतः आत्मसाक्षात्कार के बाद इन्हें जीवन्मुक्त भाव से ही किया जाता है।[19]

आत्म स्वातन्त्र्य-सिद्धांत

वेदान्तियों ने मीमांसकों के कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है।[20] उन का विचार है कि ऐसे कर्मों से जीव को मुक्ति नहीं मिल सकती। क्योंकि सन्यास न उचित है और न ही सम्भव ही क्योंकि ऐसा कर सकना किसी के वश में नहीं। सम्पूर्ण दृश्य सृष्टि ब्रह्म की लीला है। अध्यात्मविद्या की साधना के अनुसार कर्म अनित्य हैं। मायात्मक कर्मों को ब्रह्म की लीला कहा गया है। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप

में परमात्मा की भाँति कर्मात्मक प्रकृति या माया के संग से मुक्त है। आरब्ध कर्मों से छुटकारा तो नहीं पाया जा सकता परन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान द्वारा बुद्धि को निर्लिप्त, असंग एवं शुद्ध बनाकर परमेश्वर के समान आचरण करने से मुक्ति अवश्य प्राप्त की जा सकती है। यही आत्मा की कर्म-मुक्ति है। यही जल में कमल की भाँति रहना है।[21] प्रकृति अपने आप मोक्षप्रद कर्मों का आचरण नहीं कर सकती क्योंकि अनासक्त कर्म मोक्षप्रद कर्म कहलाते हैं।[22] आत्मा कर्मों को अनुकूल मार्ग की ओर नियोजित कर उन्हें मोक्षानुकूल बना लेती है। यही 'आत्म-स्वातन्त्र्य' है।[23]

सम्पूर्ण इन्द्रियां, बुद्धि और मन भी कुल मिलाकर सभी जड़ हैं। उन में कर्म-स्वातन्त्र्य की सामर्थ्य का अभाव है क्योंकि कर्म-स्वातन्त्र्य तो केवल आत्मा का ही स्वभाव है। इसी दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में अभेद है। उसे ईश्वर की इच्छा के आरोहण और अवरोहण का स्वभाव भी कह सकते हैं। अध्यात्मशास्त्रों में बतलाया गया है कि जीव कर्म-स्वातन्त्र्य की शक्ति परमात्मा से प्राप्त करता है।[24] संतों का भी यही मान्य मत है। बौद्धग्रन्थो में जीव के प्रयत्न के सिद्धान्त का प्रतिपादन है और कहा है कि 'अपने आप को निज के प्रयत्नों द्वारा सन्मार्ग की ओर लगाना चाहिए' यही बौद्ध सिद्धान्त का सार है।[25] आत्मस्वातन्त्र्य तथा उस के अनुसार आचरण करना बुद्ध का प्रधान उपदेश है।[26]

कर्मक्षय एवं आसक्ति परित्याग

संतों का विचार है कि आत्मज्ञानी के अनारब्ध कर्मों का क्षय संभव एवं निश्चित है। वे यह भी मानते हैं कि आत्मज्ञानी व्यावहारिक कर्मों का कदापि परित्यग नहीं करता। इस से स्पष्ट ध्वनित होता है कि उनका आशय कर्म-सन्यास कदापि नहीं है। कबीर एवं नानक तथा अन्य कई संत गृहस्थी थे। उन्होंने गृह का परित्याग कर वनों में जाकर जीवन विताने का उपदेश नहीं दिया।[27] उनके विचार में अकर्मण्य रहने से कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। स्थितप्रज्ञ वही है जो कर्मों का सम्पादन अनासक्त बुद्धि से करता है। ऐसा साधक ही सच्चा और विरक्त कहलाता है। उसी को ब्रह्मपद का अधिकारी माना गया है। यह विश्वास भी किया जाता है कि कर्मक्षय उस समय होता है जब जीव की बुद्धि साम्यावस्था में स्थित हो जाती है। नामरूपात्मक कर्मों या माया से निरासक्त होना परमेश्वर की कृपा से ही संभव है।[28] आत्मसाक्षात्कार के बाद आत्मज्ञानी आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का अन्तर अनुभव नही करता। ममत्व बुद्धि का प्रभाव समत्वबुद्धि द्वारा ही दूर किया जा सकता है। इसलिए मन को निर्विषय बनाकर ब्रह्मात्मैक्यनुभूति की अवस्था प्राप्त करना ही कर्मों का सच्चा क्षय है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए अभ्यास द्वारा मन को निर्विषय बनाया जा सकता है।

सन्यास एवं कर्मयोग

'आत्म स्वातन्त्र्य सिद्धान्त' में बतलाया गया है कि जीव मन और बुद्धि को निरासक्त बनाकर मुक्ति का अधिकारी बन सकता है एवं अनारब्ध कर्मों के क्षय के बाद फिर आसक्ति पूर्ण कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं होता। आसक्ति प्रधान कर्मों

से निरासक्त या विरक्त होने का आशय यह नहीं कि आत्मज्ञानी कर्म करता ही नहीं। वह जब तक शरीर धारण किए हुए है अनासक्त भाव से उसे कर्म करने पड़ते हैं। वेदों में मुख्यत: कर्मकाण्ड का और उपनिषदों में प्रधानतया ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन हुआ है।[29] शुकदेव और याज्ञवल्क्य कर्म सन्यासी थे लेकिन जनक, कृष्ण, जैगीषव्य कर्म योगी।

महाभारत के 'शुकानुशासन' प्रकरण में शुकदेव ने व्यास से पूछा कि कर्मरहित ज्ञान और केवल कर्म में से कौन श्रेष्ठ है? व्यास ने उत्तर देते हुए बतलाया कि आसक्ति-पूर्ण कर्मों से जीव बन्धन में पड़ता है[30], इसलिए तत्त्वज्ञानी ऐसे कर्मों से विरक्त रहता है।[31] इसी प्रकार का उत्तर 'अध्यात्म रामायण' में भगवान् राम ने लक्ष्मण को भी दिया है। उन्होंने कहा है कि ज्ञानी पुरुष कर्त्तव्य कर्मों को अनासक्तभाव से करता रहता है।[32] 'अनुगीता' में पारदर्शी का लक्षण बतलाते हुए उसे कर्मों के प्रति निरासक्त बुद्धि वाला बतलाया गया है। आत्मज्ञानी हमेशा फल की आशा के त्याग की भावना से ही कर्मयोग के मार्ग को अपनता है[33] और सदैव कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग कर कर्मों में प्रवृत्त होता है।[34] यह भी कहा है कि मनोनिग्रह के उपरान्त किए गए कर्म जीव को बान्धने में असमर्थ हैं।[35] 'ईशोपनिषद्' में कहा है कि ज्ञान द्वारा बुद्धि को नि:संग बना कर ब्रह्म में आत्मा के लय के उपरान्त देहेन्द्रियों द्वारा माया की सृष्टि का व्यवहार चलाने में किसी प्रकार का भय नहीं हैं।[36] गीता प्रतिपादित विचारों में भी इसी पक्ष का समर्थन हुआ है। भगवान् कृष्ण ने कहा है कि नि:संग बुद्धि से कर्म करना कर्म त्याग है। कर्म करना छोड़ देना सच्चा त्याग नहीं कहलाता। अकर्मण्य रह कर कोई जी नहीं सकता।[37] अत: कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग कर कर्म करने में ही जीव की मुक्ति है।[38] 'योगवाशिष्ठ' में भी इसी विश्वास पर बल दिया है।[39] अनासक्त कर्मों का समर्थन करते हुए जनक, राज्य शासन का उत्तरदायित्व सम्भाले हुए थे।[40] वहीं पर यह कहा गया है कि लोकसंग्रह का थोड़ा सा कार्य शेष रह जाने पर भी यदि कर्मों का परित्याग कर दिया जाए तो योगारूढ़ पुरुष की स्थिति को निर्दोष नहीं माना जा सकता।[41]

भारतीय धर्मसाधना के तीन मुख्य पक्ष हैं : ज्ञानकाण्ड, भक्तिकाण्ड और कर्म-काण्ड। संतों ने ज्ञान काण्ड की सराहना तो की है परन्तु साथ ही वाचक ज्ञानी को हेय भी बतला दिया गया है। इसी तरह से वे कर्मकाण्ड का खण्डन तो करते है लेकिन अनासक्त कर्मों का समर्थन भी उन्होंने किया है। इस से यह सिद्ध होता है कि साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड के प्रति उन की बिल्कुल आस्था नहीं है। इस प्रकार संतों ने विशेष कर मीमांसकों के कर्म काण्ड और वैधी भक्ति के बाह्याडम्बर का खण्डन किया है और पण्डितों एवं मुल्लाओं को कर्म के जाल में भटक रहे बतलाया है। ज्ञानकाण्ड के सिद्धान्त की व्याख्या करने वालों के भी दो मत हैं। एक मत यह है कि ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त आत्मज्ञानी को कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें चाहिए कि वे हर प्रकार के कर्मों का त्याग

अन्तिम शब्द

कर दें। यहां पर कर्मों से आशय धार्मिक कृत्यों आदि से है। दूसरे मत के अनुसार ज्ञानी को कर्म करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु वह कर्मों का परित्याग न कर उन्हें अनासक्त भाव से करता रहता है। इन दोनों मतों के अतिरिक्त एक तीसरे मार्ग का प्रतिपादन भी हुआ है। यह मार्ग निष्कामकर्म का मार्ग है। यही तो अनासक्त कर्मयोग है। भगवद्गीता, महाभारत के शांति एवं वनपर्व तथा योगवाशिष्ठ इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

निर्गुण संत अनासक्त कर्मयोग के सिद्धान्त को मानते हैं। कर्मों के उन्होंने दो भेद किए हैं : शुभ एवं अशुभ। शुभ कर्मों से उनका आशय यज्ञयागादि वैदिक कर्मों से नहीं है और वे न ही भागवतभक्ति की पूजाविधियों में ही विश्वास करते हैं। इस प्रकार के शुभकर्मों को उन्होंने आवागमन का हेतु माना है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि संतों द्वारा स्वीकृत कर्म अनासक्त-कर्म हैं। शुभ कर्मों से उनका आशय यही है। इस प्रकार संतों द्वारा प्रतिपादित शुभ कर्मों के भी दो भेद हो जाते हैं : पहले शुभकर्म वे हैं जिनका फल तो मिलता है परन्तु पाप कर्मों से प्राप्त होने वाले फल से पूर्णतया भिन्न है। ऐसे कर्म मीमांसकों एवं स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित कर्तव्य कर्म भी हो सकते हैं।

संतों का साध्य भक्ति है। अतः वे उन्हीं कर्मों को स्वीकार करते हैं, जो भक्ति की प्राप्ति में सहायक हैं या भक्ति के अंग हैं। 'नाम सिमरन-योग', ज्ञान, गुरुसेवा आदि संतों की दृष्टि में शुभकर्म हैं। दया, क्षमा एवं सत्य आदि मानव के सुन्दर भावों से प्रेरित हो कर किए गए जनहितार्थ कर्म ही संतों की दृष्टि में शुभ कर्म कहलाते हैं। उन्होंने बार-बार प्रभुभक्ति, नामसिमरन, नामयोग, गुरुसेवा, जल में कमल की भाँति संसार में निर्लिप्त भाव से रहना, अहंबुद्धि का परित्याग इत्यादि को शुभ कर्मों की कोटि में परिगणित किया है। गीता का निष्कामकर्म-सिद्धान्त संतों का मान्य सिद्धान्त है। प्रतिपाद्यविषय और देश एवं काल तथा परिस्थितियों के भेद के कारण उन्होंने कर्म और अकर्मका विचार भक्तिमार्ग की दृष्टि से किया है। सन्यासमार्ग को अस्वीकार करते हुए भी संतों के उपदेशों से जो कर्म की प्रेरणा मिलती है उसका प्रधान कारण है, उनका अध्यात्मप्रधान भक्तिमार्ग। अध्यात्म के उच्चस्तर पर पहुँच कर निर्गुण संत लोकमार्गी नहीं रहते परन्तु व्यावहारिक जगत में निष्काम भावना से कर्मरत रहने का उपदेश देते हैं।

निर्गुण संत : कर्म-सिद्धान्त एवं साधना की विशेषताएँ

भारतीय दर्शन एवं धर्म के दो प्रधान पक्ष हैं—प्रवृत्ति एवं निवृति। दोनों की ऐतिहासिक परम्पराओं के अध्ययन से पता चलता है कि कर्म सन्यास एवं कर्मयोग के पक्ष और विपक्ष में दोनों ओर से बहुत कुछ कहा गया है। वैदिक आर्यों का जीवन प्रवृति प्रधान था। वैदिक काल तक का समय दर्शन एवं अध्यात्म चिन्तन की प्रधानता का समय नहीं था। आर्य जाति का प्रारम्भिक जीवन कर्ममय जीवन था। वे कर्म-शीलता के सहारे जीवन के अभ्युदय में विश्वास करते थे। उस समय के समाज में

धार्मिक विधि-विधानों में याज्ञिक कर्मकाण्ड की ही प्रधानता थी । उपनिषत्काल में वैदिक कर्मकाण्ड के स्थान पर अध्यात्म-चिन्तन एवं ज्ञान को महत्व प्राप्त हुआ । तदनुसार अध्यात्म-ज्ञान द्वारा सांसारिक आसक्तियों के प्रति निर्लिप्त एवं निरासक्त भाव से आचरण करनेवाले जीवकी मुक्ति के सिद्धान्त का प्राधन्य ही रहा है । उस समय के ऋषि अध्यात्म-चिन्तन में रत रहते हुए भी सामाजिक जीवन में कर्म के प्रति अरुचि एवं अनास्था के प्रचार को अच्छा नहीं समझते थे । यही कारण है कि पराविद्या को महत्त्व मिल जाने पर भी उनका सामाजिक जीवन प्रवृत्ति-प्रधान ही बना रहा है । बौद्ध एवं जैनमत के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रचार से वैदिकयुग की वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध होने लगा था । जिन प्रधान चार आर्य सत्यों का प्रचार बुद्धधर्म में हुआ उनके अनुसार संसार को दुःखमय एवं इन्द्रियासक्तियों को दुःख का हेतु माना जाता है । इसमें अभ्युदय के स्थान पर निःश्रेयस् एवं निर्वाण के पक्ष का अधिक प्रचार हुआ है । बौद्ध दर्शन एवं उसके साधना के मार्ग दोनों मिल कर भी वैदिक कर्मकाण्ड एवं वर्ण व्यवस्था की संस्था को समाप्त न कर सके । मीमांसकों द्वारा कर्म के सिद्धान्त का जो विस्तृत विवेचन किया गया है, उनमें स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सिद्धान्तों से सम्बन्धित दार्शनिक विवेचन भी हुए हैं । उसके बाद गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म के परस्पर समन्वय और कर्मयोग पर विशेष बल दिया गया है ।

निर्गुण संतों के आविर्भाव काल से पूर्व अनेक सम्प्रदाय तथा विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विविध साधनामार्गों और धार्मिक कृत्यों के विचार का प्रचार करते रहे हैं । निर्गुण सन्तों का अध्यात्म-सिद्धान्त आत्मविचार का सिद्धान्त है । वह अद्वैतचिन्तन एवं अध्यात्मविद्या का मार्ग है । उसमें भक्ति-प्रधान साधनामार्ग स्वीकार किया गया है । गीता में जिस रीति से कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन है, ठीक वैसा ही संतों का कर्म-सिद्धान्त नहीं है । सन्तों के 'कर्म' शब्द का अर्थ सीमित है । प्रस्तुत निबन्ध में सन्तों के कर्म सम्बन्धी विचारों का विवेचन उसी सीमित अर्थ की परिधि के भीतर ही किया गया है । संतमतानुसार कर्मों के दो प्रधान भेद हैं । पहले प्रकार के कर्म वे हैं जो जीव को प्रभु-विमुख बनाकर उसे विषयासक्तियों की ओर खींच से जाते हैं । संतो के कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य लौकिक जीवन में अभ्युदय और परलोक में स्वर्गादि की प्राप्ति जैसा नहीं है । वे उन्हीं कर्मों को श्रेष्ठ कर्म मानते हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति आत्म की साधना में अधिकाधिक ऊपर उठ सकता है । संतों ने वैदिक कर्मकाण्ड को जीव के बन्धन का हेतु मान कर उसका खण्डन किया है । भक्ति को सर्वोपरि मानते हुए भी वैष्णवों की वैधी भक्ति को वे बन्धन में डालने वाले कर्मों की परिधि के भीतर ही मानते हैं । वे किसी भी ऐसे कर्म का समर्थन नहीं करते जो जीव के अहंकार के भाव की वृद्धि का किसी रूप में भी हेतु बन सकता है । उन्होंने नाम एवं रूप के माध्यम से निर्गुण परमात्मा की उपासना को कहीं पर भी मान्यता नहीं दी । उनके 'अलख' परमात्मा की साधना के उपकरण भी अरूप ही हैं ।

कर्म को सभी भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों के अनुसार दुर्ज्ञेयारम्भ माना गया है।

कर्म की सृष्टि का आरम्भ कब और कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में सभी दर्शन प्राय: मौन हैं। यही कारण है कि जीव के भव के चक्कर को अनादि माना जाता है। कर्ता को किए गए कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है और फल का देने वाला परमात्मा है। आस्तिक दर्शनों का यही मान्य मत है। निर्गुण सन्तों ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। मनुस्मृति, महाभारत तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थो में अशुभ कर्मो के कायिक, मानसिक तथा वाचिक तीन भेद किये गए हैं। इसी भाँति कर्मों के सात्विक, राजसिक एवं तामसिक भेदों का प्रतिपादन भी हुआ है। कर्मों के आरब्ध तथा अनारब्ध दो प्रधान भेदों ही का यह विस्तार है। अद्वैत वेदान्त के मत के अनुसार प्रत्येक प्रकार के कर्म वन्धन के हेतु माने गए हैं जब कि संतों ने ऐसा नहीं माना है। वे मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्मों से सन्यास लेना अनिवार्य नहीं मानते। नानक ने कर्म के सन्यास के स्थान पर कर्म करते हुए जल में कमल की भाँति निरासक्त भाव से आचरण करने की साधना को ही उत्तम साधना माना है। उनके विचारानुसार भक्ति कर्म है। प्रभ् के नाम का सिमरन कर्म है। गुरु की सेवा कर्म है। योग साधना कर्म है। सन्तों का विश्वास है कि आत्म-स्वरूप को पहचान लेने के बाद आत्मज्ञानी के अनारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है। संत-मत वर्णित कर्म-योग अनासक्त कर्म योग है। कर्मों के समष्टि एवं व्यष्टि भेद करते हुए उन्होंने समष्टि कर्मो का विधान ईश्वर की इच्छा स्वीकार किया है। जीवात्मा के कर्म व्यष्टि-कर्म माने गए हैं। त्रिगुणात्मक तथा अहकार युक्त कर्मों का निर्गुण सतों ने खंडन किया है। इसी कारण वैदिक कर्मकाण्ड की परम्परा में स्वीकृत सभी प्रकार के कर्मों का वे प्रत्याख्यान करते हैं। उनकी दृष्टि में ऐसे कर्मों का कर्ता अहंकार का अनुभव करने लगता है और अहंकार का भाव प्रभु के मार्ग की प्रधान वाधा है। संतों ने प्रभु के गुणों के गान, नाम स्मरण एवं भक्ति आदि को मोक्षप्रद कर्म मान कर उन्हें मुक्ति की प्राप्ति में सहायक मान लिया है। सिद्धावस्था की प्राप्ति के उपरान्त भी वे कर्मों के त्याग के सिद्धान्त पर विशेष वल नहीं देते हैं। संक्षेप में यही संतमत स्वीकृत कर्म-सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं हैं।

कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी भक्ति को साध्य और सत्कर्मों को गौण माना है। संत भक्त पहले हैं और ज्ञानी तथा निष्काम कर्म के प्रचारक वाद में मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना के 'कर्म' के अध्ययन के बिना भक्ति का सांगोपांग विवेचन सम्भव नहीं है। संतों ने उन्हीं कर्मों के श्रेष्ठ कर्म वतलाया है "जिन्हें वे भक्ति के उपकरण या साधन मानते हैं। विचार के क्षेत्र में वे ज्ञानी हो सकते हैं परन्तु केवल तत्त्व चिन्तन करना ही उन का साध्य नहीं है। वे भक्त हैं और भक्त भी निराकार के। अत: कर्मों की चर्चा उन की भक्तिभावना का विरोध न हो कर आवश्यक अंग माना जाता है। इसी दृष्टिकोण से संतों के कर्म सम्बन्धी विचारों का अध्ययन एवं विश्लेषण करना चाहिए।

———

परिशिष्ट

प्रथम अध्याय

निर्गुण संतों की भक्ति का स्वरूप

(पृ० 1—25)

1. डिक्शनरी आव् इस्लाम, पृ० 589;
2. मैकालिफ़ : सिक्ख रिलिजन, भा० 1, पृ० 333;
3. श्याम सुन्दर दास : कबीर ग्रंथावली (क० ग्रं० श्या०) पृ० 319/181.
4. वही० पृ० 298/214;
5. संतबानी संग्रह : भा० 1, पृ० 147;
6. वही० भा० 1, पृ० 18;
7. क० ग्रं० (श्या० पृ० 6/22);
8. वही० पृ० 129/127;
9. वही० पृ 75;
10. वही० पृ 104/57 तथा पृ० 109;
11. भागवत पुराण, 3/29/11, "अहेतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।"
12. शाण्डिल्य सूत्र (2), 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' ।
13. नारद भक्ति सूत्र (1), 'अथातो भक्तिं व्यास्यास्याम्' ; वही० (2) 'सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा' । वही० (3), 'अमृत स्वरूपाच' । वही० (4), (5) (22), (23);
14. महाभारत तात्पर्य निर्णय: 1-86-107 ;
15. गोपालतापिन्युपनिषद्। 2/1;
16. नारद पंचरात्र;
17. भक्ति रसायन, 1-3;
18. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ट 142;
19. हिन्दुस्तानी एकादमी त्रै० पत्रि० आक्टू० दिम्ब० 1946;
20. भक्ति रसामृत सिन्धु, 1/9.
21. भा० पु० स्क० 3, अध्या० 25, श्लो० 32-33;
22. वल्लभाचार्य तत्त्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ० 123, श्लो० 46;
23. रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, भा० 1, पृ० 207, सूरदास (वही०) पृ० 45;
24. दि भक्ति डाक्ट्रिन् इन दि शाण्डिल्य सूत्राः, पृष्ठ 413.
25. चरनदास बानी, भा० 1, पृ० 33;
26. संतसुधासार, सुन्दरदास, पृ० 577;
27. कबीर ग्रंथावली, पृ० 174 (श्या);
28. दादूबानी, भा० 1, पृष्ठ 105;
29. क० ग्रं० पृ० 5, दोहा 4;

भगति भजन हरि नाम है दूजा दुक्ख अपार ।
मनसा वाचा क्रमना कबीर सुमिरन सार ।।

30. आ० ग्रं०, आसा म० 1, पृ० 415, 'भगति हेत.....'।
31. वही० पृ० 1042, 'भगति हेति गुरु सबदि तरंगा.....'।
32. वही० पृ० 35, 'जो बेला बखतु बिचारीअै.....'।
33. क० ग्रं० (पा०), पृ० 9-10, पद संख्या 13.
34. आ० ग्रं० राग मारू, म० 1, (7/1-4), क० ग्रं० (पा०) पृ० 9-10,
35. वही आसा अष्टपदी म० 1, (21-1),
36. वही० वार सूही, अष्टपदी, म० 1; 37. वही० बारहमाह, म० 1, (9-10)
38. वही० बारह माह, म० 1.
39. वही० म० 1, पृ० 470; 40. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 13;
41. दादूबानी, भा० 2, पृ० 46—प्रेम नेम जिन न कियो जानी नाँही मैन। अलख पुरिष जिनि न लख्यो छार परै तेहि नैन ॥
42. सुन्दर विलास, पृ० 184.
43. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 6—राम पियारा छांडि करि, करै आन का जाप। बेश्या केरा पूत ज्यों कहै कौन कूं बाप।
44. आ० ग्रं०, म० 1, बारहमाह (1 : 14);
45. वही० राग आसा, म० 1, (26 : 3-4);
46. वही० जैत सरी, म० 5, (1 : 1); 47. वही० म० 1, बारह माह (5);
48. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 13—जो तुई साध पिरम की, सीस काट कर गोइ...॥
49. आ० ग्रं० सिरी राग, अष्टपदी, म० 1 (2 : 7—8);
50. नारद भक्ति सूत्र (सं० 190);
51. तसव्वुफ़ और सूफ़ीमत : चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० 111-125 (सं० 1945);
52. नारद भक्ति सूत्र : (सं० 82);
53. आ०ग्रं० सिरी राग, अष्टपदी, म० 1, (2 : 7—8);
54. वही० म० 1, बारह माह (13); 55. वही० रागतिलंग, म० 1, (3 : 4);
56. दयाबाई बानी, पृ० 6—'बिरह जाल उपजी हिये राम सनेही आय ॥'
57. आ० ग्रं० गूजरी, म० 4, पृ० 506—'हरि बिनु जियरा रहि न सकै.....' ॥
58. वही० म० 4, 'रोमि-रोमि मनि.....'। 59. दयाबाई बानी, पृ० 9;
60. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 9, सतगुर मारया बाण भरि भरि सूधी मूठी। अंग उघाड़े लागिया गई दिवा सु फूटी ॥'
61. वही पृ० 8,—'हंसे न बोले उन्मनी चंचल मेल्ह्यो मारि। कहै कबीर भीतर मिला सतगुर का हथियार।" वही० पृ० 2,—"गूंगा हूआ बावला बहरा हुआ कान। पाऊं तैं पंगुला भया सद गुरु मारया बान।"
62. आ० ग्रं० म० 1, गउड़ी, पृ० 114,—'मुकति पदारथ भगति हरि पाइआ।'
63. वही० मारू, म० 1, पृ० 1042,—'भगति हेति गुरु सबदि तरंगा.....॥"

64. वही० माझ, म० 5, पृ० 97,—"मेरा मन लोचे.....।"
65. वही० सूही, म० 1, पृ० 43.—'गुरु दुआरे.....'' ॥
66. वही० गडड़ी, म० 4, पृ० 310,—'सा धरती भई हरीआवली..... ॥''
67. वही० मारू, म० 5, पृ० 1075,—'गुरु दुआरे हरि कीरतन..... ॥'
68. वही० धनासरी, म० 4, पृ० 669; 69. वही० सिरी रागु, म० 4, पृ० 35;
70. नारद भक्ति सूत्र (सं० 82); 71. भा० पु० स्कं 7, अ० 5, श्लो० 23;
72. आ० ग्रं० धनासरी, म० 1, पृ० 13,—'गगने थालू रवि चंदू दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती.....कैसी आरती होई । भवखंडना तेरी आरती । अनहता सबद बाजंत भेरी (1)
73. क० ग्रं० (श्या०),—'जो पूजा हरि नाहीं भावै सो पूजनहार चढ़ावै । जेहि पूजा हरि मन भावै सो पूजनहार न जावै ।'
74. आ० ग्रं० पृ० 350,—'पूरे ताल जाणै सालाह । होरु न चणा—खुसीआ मन माह (1) रहाउ ॥ सतु संतोखु वजहि दुहि ताल । पैरी बाजा सदा निहाल ॥ रागु नादु नहीं दूजा भाउ । इतु रंगि नाचहु रखि रखि पाउ ॥ वही० पृ० 887—88);
75. वही० पृ० 255,—'काइया ब्रहमा मनु है धोती । गिआनु जनेउ धिआंनु कुस पाति हरिनामा जसु जाचउ नाउ । गुर परसादि ब्रहमि समाउ (1) पांडे ऐसा ब्रहम बीचारु । नामे सुचि नामो पड़उ नामें चजु अचारु (1) ॥ रहाउ ॥
76. वही० पृ० 687; 77. वही० पृ० 687;
78. वही० पृ० 489—'तेरा नामु करि चनणाठीआ जे मनु उरसा होइ । करणी कुंगु जे रलै घट अंतरि पूजा होइ ॥1॥..... ।'
79. क० ग्रं० (पा०); 80. वही० पृ० 90, पद 155, वही० पृ० 225;
81. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 265;
82. आ० ग्रं० म० 1, पृ० 991,—'मुल खरीदी लाल गोला मेरा नाउ सभागा...।'
83. दादूबानी, भा० 2, पृ० 92;
84. वही० पृ० 1112, तथा वही पृ० 166,—'पहला मरणु कबूलि जीवण की छड़ि आस । होहु सभणा की रेणुका तउ आउ हमारे पासि ॥
85. आ० ग्रं० पृ० 166—'लाला हाटि विहाझिया किआ तिसु चतुराई । जे राजि बहाले ता हरि.....जन नानक हरि का दासु है, हरि की वड़िआई ॥'
86. दरिया साहब : चुने पद,—पृ० 43,—'तुम मेरो साईं मैं तेरो दास ।
87. संत सुधा सार, भा० 3, पृ० 9,—'चरन कमल बिसरों नहीं करि हौं पद सेवा हो ।
88. आ० ग्रं० म० 1, पृ० 341,—'नानक गलीं कूड़िआ.....।''
89. वही० पृ० 729,—'.....सजन सोई नालि.....।' वही० पृ० 918;

90. वही० पृ० 859,—'जो दीसै.....।'
91. वही० पृ० 860,—' जो संसारे के कुटुंब.....।'
92. वही पृ० 195,—'अपने लोभ.....'।
93. वही० पृ० 298,—'सो साजन.....।'
94. वही० पृ० 318,—'नानक मित्रा.....।'
95. क० ग्रं (श्या०) पृ० 5, दो० 5, पृ० 7, दो० 30,32, आ० ग्रं० पृ० 246,
96. आ ग्रं० पृ० 248,
97. वही० पृ० 1030,—'अहि निसि राम रमहु रंगिराते.....।'
98. वही० पृ० 734,
99. वही० पृ० 389,—'सचै नामु की तिल बडिआई। आखि थके कीमति नहीं पाई ॥'
100. वही० पृ० 1127,—'जगत होम पुंन तप पूजा देख दुखी नित दूख सहै। राम नाम बिनु मुकति न पावसि मुकति नामि गुरुमति लहै ।'
101. क० ग्रं० (पा०) पृ० 101, रांम नांम बिन किन सिधि पाई ॥
102. आ० ग्रं० गउड़ी म० 1;
103. वही० मारू म० 1,—'इक तीरथ नावहिं अन्न न खावहिं.....।'
104. वही० पृ० 62,—राम नामि मनु परबोधिआ...'।
105. वही० पृ० 1127,—'जगत होम पुन्न तप...'।
106. वही० पृ० 435,—'सुणि मनि बसाइ तूं आपै.....।'
107. वही० पृ० 1064,—'नामु बसिआ...'।
108. वही० पृ० 1247,—'जिनि नामु बिसारिआ...'।
109. वही पृ० 540,—'हरि जपदिआ खिन ढिल न कीजई...'।
110. वही० पृ० 697,—'जिन हिरदै हरिनाम न बसिउ...'।
111. वही० पृ० 70,
112. वही० पृ० 105,—'जिये नाम जपीअै प्रभु पिआरै...'
113. वही पृ० 70,
114. वही० पृ० 269,—'विरथा नाम बिना तनु अंध...।'
115. नारद भक्ति सूत्र (82), 116. भागवत पु० (7/5/52),
117. क० ग्रं० (श्या०) हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया.....'।
118. आ० ग्रं०, पृ० 359,—'मन मोती जो गहणा होवै पउणु सूतधारी। खिमा सिंगारु वामणि पहिरै रमै लाल पिआरी...'।
119. वही० पृ० 359;
120. वही पृ० 357—'पेवकड़े धन खरी इआणी...सद ही सेज रवै भरतारु.....।'
121. वही० पृ० 372,—'गुन अवगुन.....।'
122. वही० पृ० 788; 123. क० ग्रं० (श्या) पृ० 148;
124. वही० पृ० 90; 125. वही० (पा०) पृष्ठ 5-6;
126. वही० (श्या) पृ० 192;

127. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 283,—गुर सेवा ते भकति कमाई.. ...'।
128. आ० ग्रं० पृ० 1,
129. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 2,—'जब गोबिन्द किरपा करि तब गुरु मिलिया आई...'।
130. आ० ग्रं० पृ० 54; 131. वही० पृ० 140;
132. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 1; 133. वही० पृ० 1;
134. आदि ग्रं० जपुजी; 135. क० ग्रं० (पा०) पृ० 137, 138,
136. वही० पृ० 138; 137. क० ग्रं० (श्या) पृ० 4, दो 32;
138. वही पृ० 279, 139. वही पृ० 124,—'अब मोहि राम भरोसा तेरा...'।
140. आ० ग्रं० पृ० 1037, 141. वही० पृ० 30,
142. वही० पृ० 28,—'जिसु नदरि करै सो उबरै हरि सेती लिव लाई...'।
143. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 166,—'मन से राम सुमरि राम सुमरि...'।
144. आ० ग्रं० पृ० 386—'ऊठत बैठत सोवत धिआइयै मारग चलत रहै हरि गाइयै...'। 145. वही पृ० 386,
146. वही० पृ० 502'—'प्रेम प्रेम गोपाल सिमरण...'।
147. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 92, 148. आ० ग्रं० जपुजी;
149. वही० पृ० 1030; 150. वही० पृ० 389,—'साचे नाम की तिलु...'।
151. वही० पृ० 1127, 152. वही पृ० 946;
153. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 5, 154. वही पृ० 333;
155. वही० पृ० 48; 156. वही पृ० 49;
157. आ० ग्रं० पृ० 745; 158. वही पृ० 1297;
159. वही पृ० 208;
160. दादू बानी, भा० 1, पृ० 160, वही० पृ० 156—साध मिलै तब ऊपजै प्रेम भक्ति रुचि होय...'। 161. पलटूबानी, भा० 3, पृ० 95;
162. आ० ग्रं० पृ० 1216, 1300, 163. क० ग्रं० (श्या) पृ० 43;
164. वही० पृ० 43, 165. वही० पृ 43, दो० 7;
166. वही० दो 8; 167. वही० पृ० 44, दो० 13,
168. वही० पृ० 113;
169. आ० ग्रं० पृ० 1223,—'मनु तनु धनु सब तुमरा सुआमी आन न दूजी जाइ। जिउ तू राखहि तिव ही रहणा...'।
170. वही० पृ० 795; 171. वही० पृ० 714;
172 मलूकदास बानी, पृ० 40, 173. कबीर साखी संग्रह, पृ० 139,
174. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 315; 175. दादू बानी, भा० 1, पृ० 111,
176. वही० पृष्ठ 110, 177. संतबानी संग्रह, भा० 2, पृ० 108,
178. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 102, 179. वही० पृ० 45, साखी 12,
180. संतसुधासार, पृ० 611; 181. क० ग्रं० (श्या) पृ० 47;

———

दूसरा अध्याय

निर्गुण संतों की भक्ति-साधना की पृष्ठभूमि

(पृ० 26—48)

1. ऋ० वे०, 6/43/31, 10/50/I, 8/44/21, 1/97/5—6, 4/1/11, 4/45/16;
2. वही० 10/82/7, 8/11/1, 4/35/4, यजुर्वेद—32/10, 13/4, 17/19, 25/13, अथर्व० 10/8/39, 4/16/2, 4/16/4, सामवे० 6/8/2;
3. ऋ० वे० 1/125/7, 1/1/6, 2/12/5, 1/11/7, यजुर्वेद०—36/9,
4. ऋ० वे० 6/45/16, 1/11/8 7/31,57, यजुर्वेद—25/18;
5. ऋ० वे० 7/87/7, 2/41/11, 7/79/2,
6. वही० 1/24/15;
7. वही० 1/76/1,
8. वही० 7/76/2 ,
9. वही० 2/27/11, 8/86/44,
10. वही० गुण माहात्म्यासक्ति—पूजासक्ति—वही० I0/50/1, रूपासक्ति—अथर्व० 10/7/32—33, स्मरणासक्ति—ऋ० वे० 8/44'19, दास्यासक्ति—वही० 7/25/4, परम विरहासक्ति—वही० 4/1/5, तन्मयासक्ति—वही० 10/43/2,
11. अनुकूल का संकल्प—वही० 63/10, प्रतिकूल का त्याग—वही० 4/19/2, गोप्तृत्व वरण—वही० 1/57/1, रक्षा में विश्वास—वही० 6/45/3, आत्म निक्षेप—वही० 10/21/4, कार्पण्य—वही० 2/33/7,
12. वही० 8/44/15,
13. वही० 8/43/14,
14. यजुर्वेद, 4/28, 40/5, 33/8,
15. ऋ० वे० 1/97/5—6, यजुर्वेद,
16. कठोप० 2/3/12—नैष वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
    अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥
17. मुण्डकोप० 1/2/11 तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति अरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्य चर्यां चरन्तः तथा छन्दो० 1/1/10।
18. कठोप० 1/2/9, 'नैष तर्केण मतिरापनेया।'
19. माण्डूक्यो० 1, तैत्तिरीयो० 1/8

20. गीता—2/20, 7/5, 8/4, 13/31, 15/7—8.
21. वृहदा० 4/4, कठ० 4/11,
22. वृहद० 3/5—8, 4/2—4, 23. छान्दो० 6/8—16,
24. केनोप० 2/11, 25. छान्दो० 6/12,
26. तैत्ति० 4/10, 27. मैत्र्युप: 4/6,
28. छान्दो० 3/14/1, 29. छन्दो० 3/14, कौषी० 1, वही० 2,
30. छन्दो० 3/14, तैत्ति० 2/1—5, वृहदा० 2/1.
31. केनो० 1/2—8, वृहदा० 2/3/6, वही० 2/3/2,
32. महाभारत शां० प० 339/21—28, 33. वृहदा० 4/4/6,
34. मैत्र्यु० 7/7, 35. रामपूर्वतापिन्युप० 16,
36. मैत्र्यु० 7/7, 37. अमृतबिन्दूपनिषद्—22,
38. गीता—4/38, 39. गीता—2/29, वेदान्तसूत्र शांकारभाष्य (वे० सू० शा० भा०) 3/2/17,
40. गीता—18/66, 41. गीता—6/47,13/25,
42. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र (शां० सू०) 2, 3/29/12, 43. भागवत पुराण (भा० पु०) 44. गीता—7/16—18.
45. भ० पु० 7/5/33, नारदभक्ति सूत्र (ना० भा० सू०) सं० 82,
46. छन्दो० 3/14, 47. गीता—12/5,
48. वेदान्तसूत्र (वे० सू०) 1/2/7; 49. श्वेता० 4/10,
50. गीता—10/3, 51. श्वेता० 4/16,
52. गीता—9/2. 53. वही० 10/41,
54. म० भा० शां० 339/44, गीता—8/11,
55. वे०सू० 4/1/4, 56. गीता—17/3, 9/35, 4/11;
57. वही० 8/23, 58. वही० 7/19,
59, वही० 7/19, 60. वही० 7/21, 10/10,
61. वही० 2/24, 8/20, 13/22; 15/7, वे० सू० 2/3/17, 2/2/42—45,
62. गीता—2/55—72, 4/18—23, 5/18—28, 12/13—19, धम्मपद=श्लो० 360—423,
63. सुत्तनिपात का वासेठ सुत्त—61, कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा। कम्म निबन्धना सत्ता रथस्साणीव यायतो।।
64. सब्बासव सुत्त—9—13, ह्वेस डेविड्स: एस० बी० ई० भाग 26, भूमिका, पृ० 23 से 25 तक।
65. महापारिनिब्बान सुत्त—1/24, 66.—वृहदा० 4/4/6,
67. मनुस्मृति (मनुस्मृ०) 6/92, 10/63, धम्मपद—108, 139;
68. वृहदा० 4/4/6, म० भा० वन० 2/63,
69. धम्मिक सुत्त—17—19, तेवज्ज सुत्त—1/35/3/5,

70. सेल्लसुत—14, थेरगाथा—831,
71. सद्धर्मपुण्डरीक—2/77—98, 5/22, 15/5/22, मिलिंद् प्रश्न—3/7/7 3/7/2,
72. सद्धर्म पुण्डरीक - अध्या० 2 वही० अध्या० 3,
73. मिलिंदप्रश्न—6/2/4,
74. हर्ष चरित एक अध्ययन, (पृ० 191) वासुदेवशरण अग्रवाल ।
75. महाभारत, भागवतपुराण, विष्णु पुराण ।
76. कूर्मपुराण—14/144, पराशरपुराण, वासिष्ठ संहिता, सूत संहिता, आश्वलायन स्मृति, भारतीयदर्शन (दासगुप्ता) पृ० 14—18,
77. भा० पु० 11/14/20,
78. वही० 2/9/32,
79. वही० 1/2/11,
80. वही० 11/2/45—47,
81. वही० 11/2/4,
82. वही० 11/4/3,
83. वही० 11/4/4—5,
84. वही० 11/4/8 आगे,
85. वही० 11/5/49,
86. वही० 11/7/2,
87. वही० 11/14/38—49,
88. वही० 11/14/12,
89. वही०, 11/14/12,
90. वही० 11/14/14,
91. वही० 11/14/15,
92. वही० 11/14/19;
93. वही० 11/14/21,
94. वही० 11/14/20,
95. वही० 11/14/22,
96. वही० 11/14/27—28,
97. गुह्यसमाज—पृ० 67, सर्व सैन्य स्तम्भन विधि तथा-रिपुमहापहार विधि, देखिए : साधनमाला, भूमिका भाग 2,
98. जयाख्य संहिता—पृ० 30;
99. वही० पृ० 32;
100. वही० पृ० 32,
101. वही०,
102. वही० पृ० 40
103. वही० पृ० 40,
104. वही० पृ० 45,
105. वही० पृ० 42,58,
106. वही० पृ० 48,
107. वही० पृ० 48,
108. ना० भ० सू० 1—6,
109. वही० 7—14,
110. वही 15—24,
111. वही० 25—27,
112. वही० 28—33,
113. वही० 34—42,
114. वही० 43—45, पातंजल योगसूत्र—1/14, भागवत पुराण—1/18/13,
115. वही० 11/12/1—2, गीता—8/14,
116. ना० भ० सूत्र—46—50, गीता—13/10, 9/22,
117. ना० भ० सू०—51—55,
118. वही० 56—57, गीता 17/11—13 वही० 7/16,
119. ना० भ० सू० 58—60,
120. वही० 61—62,

———

तीसरा अध्याय

नाम सिमरन

(पृ० 49—64)

8. हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० 92, 9. रामचरितमानस—(बालकाण्ड),
10. आदि ग्रंथ (आ० ग्रंथ) पृ० 4, वही० पृ० 246, 11. वही पृ० 152,
12, वही० पृ० 359, 13. वही० पृ० 503
14. वही० पृ० 634, 15. वही० पृ० 1327
16. वही० पृ० 1345, 17. वही० पृ० 1345,
18. वही० पृ० 1410, 19. वही० पृ० 418,
20. वही० पृ० 1022, 21. वही० पृ० 1107,
22. वही० पृ० 1030, 23. वही० पृ० 264—85,
24. वही० पृ० 893, 25. वही० पृ० 570,
26. वही०, पृ० 750, 27. वही० पृ० 203,
28. वही० पृ० 389, 666, 29. क० ग्रं० (पा०) पृ० 12/20,
30. वही० पृ० 13/21, 31. वही० पृ० 14,
32. वही० पृ० 15, 33. वही० पृ० 16,
34. वही० पृ० 39, 35, 35. वही० पृ० 42,
36. वही० पृ० 44, 37. वही० पृ० 45,
38. वही० पृ० 46, 39. वही० पृ० 48,
40. वही० पृ० 55, 41. वही० पृ० 76,
42. वही पृ० 81, 43. वही० पृ० 86,
44. वही० पृ० 97, 45. वही० पृ० 105,
46. वही० पृ० 149, 47. वही० पृ० 108,
48. वही० पृ० 110, 49. वही० पृ० 115,
50. वही० पृ० 124, 51. वही० पृ० 149,
52. वही० पृ० 149, 53. वही० पृ० 150,
54. वही० पृ० 150, 55. वही० पृ० 150,
56. वही० पृ० 150, 57. वही० पृ० 152,
58. वही० पृ० 211, 226,

नामसिमरन के प्रेरणा-स्रोत

'मंत्र' शब्द की व्याख्या (पृ० 54—64)

1. तन्त्र तत्त्वा:, शारदा तिलक के पृ० 411 से उद्धृत,
2. व्यास भास्य
3. तत्त्वशास्त्र (भूमिका) आर्थर एवेलॉ ।
4. योगसूत्र, (प्रिन्सिपल आव तन्त्राज, पृ० 410 पर उद्धृत,
5. वही० पृ० वही, प्रिन्सिपल.....के पृ० 411 पर उद्धृत,
6. वही० पृ० (प्रिन्सिपल...) 412 एवं आगे ।
7. गार्लैण्ड आव् लैटर्स : मन्त्र परिच्छेद,

———

चौथा अध्याय

गुरु साधना सम्बन्धी विचार

(पृ० 65—82)

62. दादूबानी—पृ० 6, क० ग्रं० (श्या) पृ० 39,
63. क० ग्रं० पृ० 1, 4,
64. दादू बानी भा० 1, पृ० 1
65. आ० ग्रं० पृ० 2,
66. क० ग्रं० (पा०) पृ० 2,
67. आ० ग्रं० पृ० 21—22,
68. वही पृ० 57,
69. वही० पृ० 11—20,
70. वही० पृ० 55,
71. क० ग्रं० (पा०) पृ० 4,
72. वही० पृ० 5,
73. आ० ग्रं० पृ० 58,
74. वहा० पृ० 59,
75. वही० पृ० 59,
76. वही० पृ० 59,
77. वही० पृ० 71,
78. वही० पृ० 145,
79. वही० पृ० 152,
80. वही० पृ० 224,
81. वही० पृ० 226,
82. वही० पृ० 62, 438,
83. वही० पृ० 420,
84. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 283,
85. वही० गुरु गोबिंद दोनों खड़े...1'
86. आ० ग्रं० पृ० 140,
87. वही० पृ० 1,
88. वही० पृ० 32,
89. दादू बानी—भाग 1, पृ० 2,
90. वही० पृ० 2,
91. वही० पृ० 2,
92. वही० पृ० 3,
93. वही० पृ० 3,
94. वही० पृ० 3,
95. वही० पृ० 5,
96. वही० पृ० 8,
97. वही० पृ० 7,
98. वही० पृ० 8,

99. वही० पृ० 12,
100. वही० पृ० 16,
101. वही० पृ० 17,
102. वही० पृ० 18,
103. क० ग्रं० (पा०) पृ० 24,
104. वही० पृ० 31,
105. वही० पृ० 135,
106. वहीं० पृ० 136,
107. वही० पृ० 137,
108. वही० पृ० 138,
109. वही० 139,
110. वही० पृ० 140,
111. वही० पृ० 136,
112. आ० ग्रं० पृ० 504,
113. वही० पृ० 901,
114. वही० पृ० 1015,
115. वही० पृ० 1028,
116. वही० पृ० 1031,
117. वही० पृ० 1039,
118. वही० पृ० 1042,
119. वही० पृ० 1170,
120. वही० पृ० 1410,
121 वही० पृ० 437,

संत साहित्य-वर्णित गुरु-साधना की पृष्ठभूमि

(पृ० 70—82)

1. अद्वय तारकोपनिषद्—16,
2. विवेकानन्द की सम्पूर्ण कृतियां (English) भा० 3,
3. मुण्डकोपनिषद् (मुण्डको०)—2/12,
4. भगवद्गीता (गीता)—2/7,
5. गीता—4/34,
6. माण्डूक्योपनिषद् (माण्डूक्य०)—4/27,
7. कठोपनिषद् (कठो०)—1/2/22,
8. छान्दोग्योपनिषद् (छान्दो०)—6/14/2,
9. श्वेताश्वतरोपनिषद् (श्वेता०)—6/22,
10. हरदयाल:—बोधि सत्त्वा: (English),
11. बौद्धगान ओ दोहा, (हर प्रसाद शास्त्री) भूमिका, पृ० 3,
12. क० ग्रं० (पा०) पृष्ठ 139, लघुयोग वासिष्ठ (ल० यो० वा०)—30/130—31,
13. वही० 2/145,
14. वही० 31/3
15. हिन्दी साहित्य की भूमिका (हि० सा० भू०) डा० हजारी प्रसाद पृ० 89.
16. प्रिन्सिपल आव् तन्त्राज (English),
17. वही० पृ० 530 पर,
18. वही० पृ० 532 पर,
19. वही० पृ० 533—34 पर,
20. वही पृ० 534 पर,
21. वही० पृ० 534 पर,
22. वही० पृ० 535 पर,
23. वही पृ० 537 पर,
24. वही० पृ० 537—38 पर
25. वही० पृ० 538—39,
26, अद्वयतारकोपनिषद् (अद्वय० उप०) 16,

27. योगशिखोपनिषद्:—
28. अद्वय० उप० 17,
29, ब्रह्मविद्योपनिषद्—31,
30. विचारचूड़ामणि—32,
31. वही० पृ० 33,
32. वही० पृ० 34,
33. अवधूत गीता 2/3,
34. वही० 2/40,
35. तत्त्वोपनिषद्—87,
36. नारद पांचरात्र—1/2/7
37. वही० 1/2/55,
38. वही० 1/2/46,
39. वही० 1/2/7,
40. वही० 1/2/47,

———

41. वही० 3/7/2,
42. वही० 1/10/12,
43. वही० 1/10/12,
44. वही० 3/1/16,
45. वही० 3/7/4,
46. वही० 2/8/13—14,
47, वही० 4/4/8,
48. वही० 2/8/22—23,
49. वही० 2/8/21,
50. गोरखबानी (बड़थ्वाल)—पृ० 9,
51. वही० पृ० 8,
52. वही० पृ० 9,
53. वही० पृ० 10,
54. वही० पृ० 50,
55. वही० पृ० 50,
56. वही० पृ० 52,
57. वही० पृ० 168,
58. वही० पृ० 55,
59. वही० पृ० 145,
60, वही० पृ० 123,

———

पांचवां अध्याय

संत-साधना तथा योग

(पृ० 83—107)

1. डा० बुद्ध प्रकाश,
2. क० ग्रं० (पा०) पृ० 32, पद 56, 'अवधू मेरा मनु मतवारा। । उनमनि चढ़ा मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजिआरा.....उछकिन कबहुँ जाई ॥3॥, वही० पृ० 88, पद 151, 'कौरी को काहू मरमु न जांनां ।.....सहज तारलै पूरिन पूरी । अजहुँ बिनैं कठिन है दूरी ॥2॥
3. क० ग्रं० (पा०) पृ० 81, पद 156,
4. वही० पृ० 80, पद 155,
5. आ० ग्रं० पृ० 877—907,
6. वही पृ० वही०,

7. क० ग्रं० (पा०) पृ० 72, पद 122, 8. डा० ह० प्र०, कबीर, पृ० 44,
9. बीजक शब्द 82,
10. क० ग्रं० (पा०) पृ० 83 पद 142, वही० पृ० 84, पद 143,
11. वही० पृ० 88, पद 151,—'जोगिया फिरि गयो गगन मझारी.....गगन गया सो आवै न जाई ॥3॥
12. क० ग्रं० (श्या०) पृ० 308, संतकबीर—डा० रा० कु० वर्मा राग गउड़ी, 73, वही० राग रामकली 6, वही राग गउड़ी, 54,
13. विशेष विवरण के लिए देखिए :—घेरण्ड संहिता: षट्चक्र निरूपण तथा कल्याण पत्रिका : शक्तिअंक, पृ० 454 तथा आगे,
14. हठयोग प्रदीपिका, 3—52, 15. बौद्धगान ओ दोहा—पृ० 9,
16. हठयो०प्रदीपिका, 5—18,—' द्वा सप्त सहस्राणि नाड़ी द्वाराणि पंजरे । सुषुम्ना शाम्भवी शक्ति: शेषास्त्वेव निरर्थका:,
17. शिव संहिता, 7—131,
18. विशेष विवरण के लिए देखिए :—संत कबीर—राग गउड़ी, 73, राग रामकली 6, क० ग्रं० (श्या०) 288, क० ग्रं० (पा०) पृ० 72, पद 122, पृ० 80, पद 134, 19. हठयोग प्रदीपिका, 1—45,
20. वही० 1—45, 21. वही० 3—46 से 48 तक,
22. बीजक. शब्द 82,—' नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै ।...घन बरिसै तन छीजै ॥
23. क० ग्रं० (श्या०) पद 72,—'अवधू मेरा मन मतवारा.....।'
24. ह० यो० प्र०—2/42. वही० 3/53, 25. वही० 4/29—30,
26. क० ग्रं० (श्या०) पद 44—'जल में कुम्भ कुम्भ में जल है.....।'
27. आ० ग्रं० राम कली. म० 1, पृ० 905,
28. वही पृ० 905,— 29. वही पृ० 835, विलावलु.
30. वही० रामकली, म० 1. पृ० 903,—' जगु परबोधहि.....।'
31. वही० सूही. म० 1, पृ० 730—' भजन मांहि निरंजन रहिए...।'
32. वही० रामकली पृ० 908,
33. डा० मोहनसिंह—'पंजाबी भाखा विगिआन अते गुरमति गिआन ।' पृ० 73—74, 34. आ० ग्रं० पृ० 153,—' उलटि कमलु.....।'
35. वही०—पृ8 351,—' अनदिनु जागि.....।'
36. वही० पृ० 436,—' अनहदो अनहदु आसा.....।'
37. वही० पृ० 1039,—' न मनु चलै न पउणु उड़ावै । जोगी सबदु अनाहदु वावै ॥ पंच सबदु झंकारु निरालमु प्रभु आपे वाइ सुणाइआ ॥8॥,
38. वही० पृ० 351,—'सुनि निरंतर.....'

39. वही० पृ० 893—94,—' अंम्रित वाणी पूंजी.....।' वही० पृ० 1069,—' अंम्रित रस सत गुरु चुआइआ...'
40. क० ग्रं० (पा०) पृ० 101 पद 174, 41. वही पृ० 101,
42. क० ग्रं० (ग्या०) पृ० 110,—' कोई पीवै रस राम नाम का...।'
43. वही० पृ० 111,—' दास कबीर यही रस माता...'
44. वही० पृ० 295,—' आसन पवन दूरि करि बवरे...'
45. वही० (पा०), पृ० 86, पद 146,
46. क० ग्रं० (पा०) पृ० 76--77—' इह जिउ रांम नांम लिव लागै.. कहै कबीर सो प्रांनीं तरै ।' (पद 130), 47. वही० पृ० 88, पद 151,
48. वही० (ग्या०) पृ० 198,—'सुरति समानी निरति में...'
49. वही०, 50. आ० ग्रं० पृ० 1037,—'पउणु पाणि सुनि...।'
51. वही० पृ० 943—44, (सिधगोसट),
52. पंजाबी भाखा विगिआन अते गुरमति गिआन. पृ 173—77,
53. भाई जोधसिंह : गुरमति निरणय : पृ० 214, आ० ग्रं० 938—40,
54. वही० माझ म० 3, पृ० 124,
55. वही० पृ० 764,—' पंच सबद धुनि अनहद बाजे हम घरि साजन आए...।'
56. वही० पृ० 946 (सिध गोसट),—' नानक बिनु नावै जोगु कदै न होवे...'
57. क० ग्रं (ग्या०) पृ० 269,
58. वही 158—'या जोगिया की जुगति जो बूझै...'
59. वही० पृ० 161,—' द्वादस कूवां एक बनमाली...'
60. वही० पृ० 109,—'अवधू जोगी जग तें न्यारा...'
61. हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय : (बड़थ्वाल०), पृ० 149,
62. आ० ग्रं० पृ० 1414, 63. वही० पृ० 126,
64. संस्कृति संगम (सेन), पृ० 121, 65. आ० ग्रं० पृ० 68,
66. क० ग्रं० (ग्या०) पृ० 182,—'हिरदे कपट हरि सूं नहिं...'
67. आ० ग्रं० पृ० 68, म० 3, 68. संस्कृति संगम (सेन), पृ० 122,

निर्गुण संतों की योग-साधना के प्रेरणा-स्रोत

(पृ० 95 से 107 तक)

1. डा० राधा कृ०, भारतीय दर्शन (भा० द०) भा० 2, पृ० 372,
2. छान्दो० 6/8/6, 3. मैत्र्यु० 6/18,
4. मधु सूदन सरस्वती; गीता; 6/29—द्वौ कर्मों चित्त नाशस्य योगो ज्ञानं च राघव । योगो वृत्ति निरोधो हि ज्ञानं सम्यग् वीक्षणम् ॥ असाध्य: कस्यचिद् योग: कस्यचित् तत्त्व निश्चय: ॥ 5. योग सूत्र (तत्त्व वैशारदी) 1/4,
6. यो० सू० 1/25—26, 7. योगभाष्य—1/25;

8. यो० सू०—1/27—28,
9. डा० रा० कृ० भा० द० भा० 1, पृ० 372 के फुटनोट से उद्धृत।
10. वही० भा० 2, पृ० 236,
11. अमरकोश—3/3/22,—' योगः संहननोपाय ध्यानं संगति युक्तिषु...'
12. गीता—3/7, 5/1—2, 9/28, 13/24,
13. वही० 9/5, 10/7, 11/8,
14. यो० सू०—'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः ।'
15. गीता—' तस्माद् योगाय युज्यस्व ।' 16. म० भा० द्रोणपर्व—181/31,
17. गीता रहस्य—पृ० 59, 18. गीता—6/12/22,
19. सर्व दर्शन संग्रह—15, यो० सूत्र—1/1, गीता—9/5,
20. बलदेवकृत प्रमेय रत्नावली—पृ० 14,
21. ऋ० वे० 10/136/4—5, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भा० 2, पृ 111,
22. वही० भा० 1, पृ० 121,
23. शुक्लयजुर्वेद—3/35, सामवेद—2/8/12,
24. बृहदा०—4/14, 3/5, 4/4, तैत्ति० 1, कठ० 3/12, प्रश्न०—9/5,
25. छान्दो० 3/17/4, बृहदा० 1/2/6, तैत्ति० 1/9/1, 3/2/1, 3/3/1, तैत्ति० ब्रह्मण—2/2/3/3, शत० ब्रा०—11/2/8/1,
26. मैत्र्युप० 6/10, 27. छान्दो० 6/8/6,
28. मैत्र्यु० 6/18,
29. डा० रा० कृ० भा० द० भा० 1, पृ० 355, पुष्पिका नं० 3,
30. विशेष विवरण के लिए देखिए हरिहरानन्द का भाष्य (पा० यो० दर्शन पर,) भूमिका,
31. मज्झिम निकाय—1/16, यो० सू० 1/17, भा० द० पृ० 426,
32. यो० सू० 1/33,
33. हाफ्किन्स : योग टेकनीक इन ग्रेट ईपिक (English) पृ० 22,
34. विशेष विवरण के लिए देखिए :—अवस्क्योर रिलिजस् कल्ट्स (डा० दास गुप्ता), स्पन्द कारिका, वैष्णव भैरव,
35. दास गुप्ता : अवस्यो० रि० पृ० 160,
36. आब्स्क्योर् रिलिजस् कल्ट्स्,
37. अपरोक्षानुभूति—3, विचार चुड़ामणि—19,
38. अपरोक्षानुभूति—5, विचार चूड़ा मणि—20,
39. अपरो०—4, यो० वा०—17—101, विचार चूड़ा, 419, वही० 275, अन्नपूर्णोपनिषद्—1/45,
40. अपरो०—6, 7, 8, वि० चुड़ा, 22, 23, 25—29,

41. वि० चूड़ा 377, योगवासि०—21/40, आत्मबोध—38,
42. अमृतनादोपनिषद्—27, वि० चूड़ा०—271—72,
43. योगवा०—13/8, 44. योगवा० 17/249—50,
45. मूल यो० वा० 2—8, 11, 13, 16,
46. सुवालोपनिषद्—13/1, मुण्डक० 4/90,
47. विचार चूड़ामणि—339, 355, 48. अष्टावक्रगीता 16/9,
49. वही० 17/2, 50. योगवासिष्ठ—29/42,
51. वही० 25/12, 8/9, 52. महोपनिषद्—4/6,
53. अध्यात्मोपनिषद्—14, विचार चूड़ामणि—328,
54. योगवासिष्ठ—16/8, वही० 20/1, 55. विचार चूड़ामणि—267,
56. अन्नपूर्णोपनिषद्—1/33, योग वासिष्ठ—25/24—25,
57. अध्यात्मोपनिषद्—12, 58. अन्नपूर्णोपनिषद्—4/38,
59. योगवा०—41/68—72,
60. वराहोपनिषद्—4/2/22, महोपनिषद्—2/54—55,
61. अध्यात्मोपनिषद्—47
62. महोप०—2/46, तेजबिन्दूप०—4/6,
63. जीवन्मुक्ति गीता—3, 11,3, 64. वराहोप०—4/2/21,
65. महोप०—2/49,
66. जीवन्मुक्ति गीता—16, 17, 19, महोप०—6/45, वराहोप०—4/2/25
67. तेजबिन्दूप०—4/39/41, 68. वही० 4/41—44,
69. योगवा० 27/62—66, 70. यो० शिखोप०—1/43,

---

71. विचारचूड़ा०—540, अष्टावक्र गीता—4/4,
72. विचारचूड़ा०—541, शतश्लोकी—96,
73. अपरोक्षानुभूति—91, 96, 97, मुण्डकोप०—2/2/8,
74. अपरो० 92, 93, 75. योगवा० 20/36,
76. पिंगलोप०—3/5,
77. वराहोप०—2/27—28, अष्टावक्र गीता—18/15, पाशुपत ब्रह्मोप०—2/24—25,
78. योगवा०—41/102—105, अद्वयतारकोप०—10, 11,
79. वही०, 80. अन्नपूर्णोप०—2/11—12,
81. अवधूतगीता—2/29, 1/68, पिंगलोप०—4/10, अवधूत गीता—2/25,

छठा अध्याय

निर्गुण संतों द्वारा वर्णित ज्ञान मार्ग

(पृ० 107—119)

1. वेदान्त सूत्र, शांकर भाष्य : भूमिका, सथा गीता रहस्य (अध्यात्मज्ञान)
2. कबीर मंसूर, के आधार पर,
3. बृहदारण्यकोपनिषद्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात् न हि विज्ञातुर्विजाते विपरिलोपो वर्तते ।
4. क० ग्रं० पृ० 37, पद 64, 5. वही० पृ० 42, पद 71
6. वही० पृ० 75, पद 127 7. आदि ग्रंथ : पृ० 950;
8. वही० पृ० 1291, 9. क० ग्रं० पृ 241 10. वही० पृष्ठ 318
11. आ० ग्रं० पृ० 23, 12. वही० पृ० 23, 13. वही० पृष्ठ 23,
14. वही० पृ० 24, 15. वही० पृ० 74,
16. क० ग्रं० पृ० 135, 17. वही० पृ० 294, I8. आ० ग्रं० 349,
19. वही० पृ० 413. 20. क० ग्रं० 273, 284, 21. वही० पृ० 268,
22. वही० पृ० 6, 23. आ० ग्रं० पृ० 74, 24. वही पृ० 64,
25. वही० पृ० 634, 26. क० ग्रं० पृ० 163, पद 220,
27. वही० पृ० 241, 28. क० ग्रं० (पा०) पृ० 62, पद 106, आ० ग्रं० पृ० 1153, 29. का० ग्रं० (पा) पृ० 122,
30. आ० ग्रं० पृ० 878 31. वही० पृ० 598,
32. का० ग्रं० (पा०) पृ० 227, साखी 2,
33. वही० पृ० 227, साखी 4,
34. आदि ग्रंथ : मूलमंत्र, पृ० 1,
35. (क) क० ग्रं० पृ० 408, 50, 7, (ख) वही० पृ० 36,
36. वही० पृ० 40, 37. वही पृ० 41, 38. वही० पृ० 186,
39. वही० पृ० 189, 40. वही० पृ० 191, 41. वही पृ० 192,
42. वही० पृ० 194, 43. अ० ग्रं० पृ० 254, 44. वही पृ० 374,
45. वही० पृ० 2०5, क० ग्रं० (पा०) पृ० 121, 46. क० ग्रं० पृ० 195,
47. वही० पृ० 196, 48. वही० पृ० 235, 49. आ० ग्रं० पृ० 357.
50. क० ग्रं० (पा) पृ० 2, 51. आ० ग्रं० 21, 56, 19, 20,
52. वही० पृ० 55, क० ग्रं० (पा) पृ० 48, 54. वही० पृ० 51,

निर्गुण संतों द्वारा स्वीकृत ज्ञान साधना के स्रोत

(पृ० 113—119)

1. अवधूत गीता 1/1, 2. पैंगलोपनिषद् 2/17,
3. लघु यो० वासिष्ठ (ल० यो० वा) 19/9,

4. योगवा० (यो० वा०) 10/10/11,
5. वही० 30/130—31, 6. वही० 31/3, 7. वही० 10,
8. वही० 41/30, 9. दर्शनोपनिषद् 1/6,
10. वही० 2/1, 11. ब्रह्ममण्डलोपनिषद् 1/4
12. अपरोक्षानुभूति 105,
13. ल० यो० वा० 25/7, अन्नपूर्णोपनिषद् 1/28,
14. अन्नपूर्णोपनिषद् 1/29, महोपनिषद् 4/7,
15. ल० यो० वा० 2/80—81, 16. विचार चुड़ामणि 375,
17. महोपनिषद् 5/6—7,
18. ल० यो० वा० 27/47, शतश्लोकी, 97,
19. ल० यो० वा० 24/129—30, अध्यात्मोपनिषद्, 36;
20. मण्डलब्रह्मोपनिषद् 5/9, 21. मण्डकोपनिषद् 3/2/3, कठोप० 2/8,
22. कठोपनिषद् 4/1 23. बृहदारण्य० उप० 2/4/2,
24. गीता 5/14—15, 25. गीता 4/37, महाभारत वनपर्व, 198/106—107; शां० पर्व० 211/17, छान्दो० 4/14/3,
26. वे० सू० शां० भा० 2/3/40, 27. म० भा० शां० पर्व 308/27—30,
28. ल० यो० वा० 55, 29. विचार चूड़ामणि 62,
30. अपरोक्षानुभूति 11, 31. ब्रह्मविद्योपनिषद् 36,
32. यो० वा० 27/72, 33 योगशिखोपनिषद् 1/54,55,

———

सातवां अध्याय

निर्गुण संतों के कर्म-योग सम्बन्धी विचार

(पृ० 120 से 132)

1. कबीर ग्रंथावली : (पारस) पृ० 119, रमैनी, 4,
2. वही० रमैनी 9, 10, 11, 3. आदिग्रंथ पृ० 992,
4. वही० पृ० 85, 118, 5. वही० पृ० 85, 118
6. वही० पृ० 980, 7. वही० पृ० 980,
8. वही० पृ० 1030—31, 9. वही० पृ० 1034, 1241,
10. (क) क० ग्रं० (पा०) पृ० 114, पद 166, वही० पृ० 120, पद रमैनी 7,
10. (ख) वही० पृ० 137, 11. गीता
12. मैकालिफ़ : सिक्ख रिलिजन (नानक जीवन वृत्त),
13. (क) आ० ग्रं० पृ० 635, 13. (ख) क० ग्रं० (पा) पृ० 66,

14. वही० पृ० 74, 15. आ० ग्रं० पृ० 230,
16. वही० पृ० 596, 17. आ० ग्रं० पृ० 144, 223, 255,
18. क० ग्रं (पा०) पृ० 110, पद 188,
19. वही० पृ० 114, 120, 20, आ० ग्रं० पृ० 227,
21. वही० पृ० 154, 22. क० ग्रं० (पा०) पृ० 25, पद 41,
23. वही० पृ० 35, पद 60, 24. वही० पृ० 38, पद 65,
25. वही० पृ० 85, 26. वही पृ० 172,
27. आ० ग्रं० पृ 59, 1029, 153—154,
28. क० ग्रं० (पा०) पृ० 1, आ० ग्रं० पृ० 115,
29. आ० ग्रं० जिस के अंतरि साचु बसावै । जोग जुगति की मति पावै ॥
रवि ससि एको गृह उपिआनै । करणी की रति करम समानै ।
30. वही० पृ० 906, 31. क० ग्रं० (पा०) पृ० 100—101,
पद 173, 32. आ० ग्रं० पृ० 108,
33. क० ग्रं० (पा०) पृ० 234, 34. वही० पृ० 214,
35. वही० पृ० 202, 36. आदि ग्रंथ. पृ० 470,

निर्गुण संतों के कर्म सिद्धान्त के प्रेरणास्रोत

(पृ० 126—132)

1. गीता, 7/24—25 2. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1/6/1,
3. गीता, 4/6, 4. वही० 8/3
5. ऋग्वेद : I0/129, तैत्तिरीय ब्राह्मण : 2/ 8/ 9,
6. वेदान्त सूत्र शांकर भाष्य ; 2/1/33,
7. वही० 2/1/35—37, गीता : 7/14,
8. वही० 2/1/14, 9. वही० 1/4/3,
10. गीता : 15/3, 3/15, 3/14, 3/10,
11. महाभारत शांतिपर्व 239, मनुस्मृति : 2/21,
12. बृ० उप० 3/8/9, 13. वे० सू० 2/1/35, म० भा० शान्तिपर्व, 231—48, गीता : 8/18—19, वही० 4/17,
14. मनुस्मृति, 4/173,
15. वे० सू० शां० भा० 3/2/38. कौषीतकी उपनिषद् 3/8, गीता 7/22, 8/29, 5/14—25. वे० सू० शां० भा०, 2/1/34,
16. मनुस्मृति 15/5—7, म० भा० अनुशासनपर्व 13, 18/23—25, मनुस्मृति 12/31—34; 17. गीता : 14/12, 15,
18. वे० सू० शां० भा० तथा महाभारत 3/2/39

19. वही० 4/1/12, सांख्याकारिका 17,
20. वे० सू० शां० भा०. 4/3/14, गीता : 3/4, 5/25, 6/10, म० भा० शांतिपर्व 260/17, वही० वनपर्व 256, 260,
21. मनु० स्मृ० 2/115 गीता : 3/33, 18/59, 2/60, वे० सू० शां० भा० 2/3/40, 22. म० भा० शां० पर्व : 308/27—30,
23. योग वासिष्ठ : 2/4—8, गीता 6/5,
24. वे० सू० शां० भा० 2/3/40, ऋ० वे० 4/33/11, वे सू० 2/3/41, गीता 10/5, 10, 22. धम्म पद : 350,
26. महा परिनिब्बान सुत्त : 2/33—35,
27. गीता : 3/4, 2/47, 4/20, 5/7, 12/11. 18/19, 18/57, मैत्र्युपनिषद् 4/34, अमृतबिन्दूपनिषद् 2, 28. वे० सू० 4/4/17,
29. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/1/1, श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3—8 बृहदा० 4/4/22, मुण्डक० 1/2/11, जाबाल० 4, 30. वे० सू० 3/4/9,
31. म० भा० शुकानुशासन—240/7, 32. वही० अध्या 2/4/42,
33. वही० अनुशासनपर्व— 51/33, वही वनपर्व 2/73, वही० शांतिपर्व—237/1 234/39, 35. गीता—18/7, 3/6,
36. ईशोपनिषद्—11,
37. गीता : 3/5, 11/11, 4/8, 3/24. म० भा० वनपर्व 33/8, वही० शांतिपर्व 339/103, 38. वही०—,
39. योग वासिष्ठ—630/199, 216,
40. म० भा० शांतिपर्व—275/4, 219/50,
41. यो० वा० मुक्ति सर्ग—128, श्लो० 97,

———

TORONTO

33.

36.

37

39

PK 2031 S336
Sharma, Harbanshlal
Madhyakalina-nirgunabhakti-sadhana

[redacted]

PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY